ज्ञान तथा पदार्थों में क्रिया व परिवर्तन हुए, होते हैं एवं होंगे पदार्थों के विषय से सापेक्ष हैं। वास्तव में अनन्त काल में न भूत है, न वर्तमान, न भविष्यत्। स्वामी जी कहते हैं कि परमेश्वर का ज्ञान त्रिकालिक नहीं होता क्योंकि उसके नाम में त्रिकाल नाम का कोई ज्ञान नहीं वरन् परमेश्वर का ज्ञान अखंड एकरस है। भूत व भविष्यत् जीवों के लिये हैं,[1] जो ज्ञान का सम्बन्ध काल में करते हैं।

परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि व्यावहारिक दिक्-काल कोई हमारे मानसिक प्रत्यय होने से हम पर आश्रित हैं जैसा कि कान्ट कहता है। व्यवहार के दिक्-काल भी हमसे पृथक् हैं क्योंकि वस्तुओं की स्थिति हम से पृथक् है और परिवर्तन व स्थिति वस्तुओं में होती है इससे ये किसी भी रूप में अपनी सत्ता के लिये जीव पर आश्रित नहीं हैं। व्यावहारिक काल व दिक् अनन्त काल व दिक् के रूप मात्र हैं जो हम व्यवहार की सरलता तथा ज्ञान-विज्ञान की गणना के लिये पदार्थों के सम्बन्धों व परिवर्तनों से मान लेते हैं। इस विषय पर विज्ञानभिक्षु का मत स्वामी जी से मिलता है।[2]

सृष्टि वृत्तान्त

सांख्यों की तरह स्वामी दयानन्द भी कार्यकारणवाद के सिद्धान्त पर चलते हुये जगत् के उत्पादन कारण के लिये प्रकृति पर पहुँचते हैं। कारण में कार्य अव्यक्तावस्था में होता है यह सांख्यों का सत्कार्यवाद का सिद्धान्त स्वामी

---

१. सत्यार्थप्रकाश, पृ० १९२

२. सांख्य प्रवचन भाष्य

"But these, space and time, which are limited, are produced from Akasha through the conjunction of this or that, limiting object (Upadhi)." as quoted by S, Radhakrishnan in his Indian Philosophy, Vol. 2, page 277.

जी को पूर्णतया मान्य है। यदि कारण में कार्य निहित न हो, तो किसी भी कारण से कोई भी कार्य उत्पन्न हो जाय। तब बौद्धों के शून्यवाद में क्या बुराई है। इनके मत में असत् से सत् अर्थात् शून्य से भाव की उत्पत्ति होती है। स्वामी दयानन्द का कथन है कि कार्य रूपी अंकुर 'जो बीज का उपमर्दन करता है वह पहिले ही बीज में था, जो न होता तो उत्पन्न कभी नहीं होता।'[१] प्रत्येक कार्य का कोई कारण होता है तथा जो कारण है वह भी किसी का कार्य है, परन्तु कार्य-कारण की यह शृङ्खला अनन्त तक नहीं चल सकती। अतः हमें एक अन्तिम कारण के रूप में एक ऐसी सत्ता को मानना पड़ेगा जो समस्त ब्रह्माण्ड का उपादान है। यह उपादान स्वामी जी के शब्दों में 'सब जगत् का मूल घर और स्थिति का स्थान है, (और) यह सब जगत् असत् के सदृश प्रकृति में लीन होकर वर्तमान था अभाव न था।'[२]

प्रारम्भ में प्रकृति अपने तीन गुण सत्व, रज और तम की साम्यावस्था में थी जैसा की सांख्य कहता है। उस अवस्था मे यह जगत् न किसी के जानने न तर्क में लाने और न प्रसिद्ध चिह्नों से युक्त इन्द्रियों से जानने योग्य था।[३] क्योंकि कार्य जगत् अपने सूक्ष्म कारण मूल प्रकृति में लीन था। उस समय प्रकृति की अवस्था गम्भीर कोहरे के सदृश्य थी। उस अवस्था में परमाणु भी अपनी मूल कारणावस्था सत्व, रज व तम मे लीन हो चुके थे। केवल सत्व, रज व तम का सूक्ष्म प्रधान सर्वत्र फैला हुआ था। तब न रात्रि थी, न दिन, न मृत्यु थी और न जन्म, क्योंकि जब सूय आदि प्रकाशमान् पिण्ड हा नही थे तो दिन का व्यवहार कैसे माना जाता। इसी प्रकार जब शरीरधारी मर्त्य ही न थे तो मृत्यु किसकी होती, इससे मृत्यु भी न थी। सर्वत्र घोर अन्धकार था।

---

१. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २१७।
२. वही, पृ० २११।
३. वही, पृ० २१४

स्वामी दयानन्द के दर्शन में सत्व, रज और तम प्रकृति के ये तीनों गुण वैशेषिकों के गुणों के समान नहीं हैं बल्कि सांख्यों के अनुसार स्वयं प्रकृति के रूप हैं।[1] वैशेषिकों के गुण धर्म-धर्मी भाव से धर्मी के धर्म हैं परन्तु सांख्यों के सत्व, रज व तम स्वयं प्रकृति हैं।[2] साम्यावस्था में प्रकृति के तीनों गुणों में साम्यता रहती है। सत्व, रज व तम का गठन इस प्रकार होता है कि एक गुण दूसरे की क्रिया को रोके होता है।

कल्प के आदि में परमात्मा अपनी सामर्थ्य से कारणरूप प्रकृति को कार्य-रूप जगत् में परिणत कर देता है। दयानन्द कहते हैं कि यह सब जगत् सृष्टि के पहिले अन्धकार से आवृत्ति रात्रि रूप में जानने के अयोग्य आकाशरूप सब जगत् तथा तुच्छ अर्थात् अनन्त परमात्मा के सम्मुख एक देशी आच्छादित था पश्चात् परमेश्वर ने अपनी सामर्थ्य से कारणरूप से कार्यरूप कर दिया।[3] यहां पर दयानन्द का तात्पर्य यह है कि जड़ प्रधान स्वयं सृष्टि उत्पन्न नहीं कर सकता। और यदि यह कहा जाय कि प्रधान में सृष्टि कर्तृत्व स्वभाव से है। तब इस पर दयानन्द का तर्क है कि जिन पदार्थों का जो स्वभाव होता है वह नष्ट नहीं होता इससे सृष्टि-निर्माण-कला प्रधान का स्वभाव होने से विनाश का प्रश्न नहीं उठता और यह विनाश स्वभाव से हो तो निर्माण कभी नहीं हो सकता और जो दोनों स्वभाव युगपत् द्रव्यों में मानें तो दयानन्द उत्तर देते हैं कि इससे उत्पत्ति और विनाश दोनों की ही व्यवस्था भंग हो जायेगी।[4]

---

१. '(सत्व) शुद्ध (रजः) मध्य (तमः) जाड्य अर्थात् जड़ता तीन वस्तु मिलाकर जो एक संघात है उसका नाम प्रकृति है।' सत्यार्थप्रकाश, पृ० २१०

२. 'सत्वादीनामतद्धर्मत्वम् तद्रूपत्वात्'। सांख्यसूत्र, ६–३९।

३. सत्यार्थप्रकाश, पृ० २०८।

४. 'जो स्वभाव से जगत् की उत्पत्ति होवे तो विनाश कभी न होवे और जो विनाश भी स्वभाव से जानो तो उत्पत्ति न होगी और जो दोनों स्वभाव युगपत द्रव्यों में मानोगे तो उत्पत्ति और विनाश की व्यवस्था कभी न हो सकेगी।' सत्यार्थप्रकाश, पृ० २२०।

इसके अतिरिक्त स्वामी दयानन्द का तर्क है कि "बिना कर्त्ता के कोई भी क्रिया या क्रियाजन्य पदार्थ नहीं बन सकता। जिन पृथिवी आदि पदार्थों में संयोग-विशेष से रचना दीखती है वे अनादि कभी नहीं हो सकते और जो संयोग से बनता है वह संयोग से पूर्व नहीं होता और वियोग के अन्त में नहीं रहता।"[1] इससे सृष्टि का निर्माणकर्त्ता निमित्त रूप परमात्मा है। यह हम इसी पुस्तक के पृष्ठ १०३ पर कह आये हैं कि ठीक इसी रूप में स्वामी दयानन्द सांख्य में भी ईश्वर के द्वारा सृष्टि निर्माण मानते हैं, तभी सांख्यों का प्रधान अर्थवान हो सकता अन्यथा नहीं।

प्रकृति से विकृति का किस प्रकार निर्माण होता है इसका स्वामी जी इस प्रकार वर्णन करते हैं परमात्मा प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न करता है जिससे तीनों गुणों की साम्यावस्था नष्ट हो जाती है और प्रकृति निश्चित् नियमों के आधार पर विकृति की ओर चल देती है। प्रकृति का सर्वप्रथम विकार महत्तत्व बुद्धि, उससे अहंकार, उससे पंचतन्मात्रा सूक्ष्म भूत और दस इन्द्रियां तथा ग्यारहवां मन, पांच तन्मात्राओं से पृथिव्यादि पांच भूतों की उत्पत्ति होती है।[2] प्रकृति से सृष्टि के विकास का यह क्रम दयानन्द ज्यों का त्यों सांख्यों से लेते हैं। इनमें और अन्य सांख्य टीकाकारों में भेद यह है कि स्वामी जी पुरुष शब्द से परमात्मा व जीवात्मा दोनों का ही ग्रहण करते हैं। सांख्यों की तरह वे भी इस सृष्टि-क्रम को चार विभागों में विभाजित करते हैं (१) प्रकृति अविकारिणी, (२) महत्तत्व, अहंकार और पांच सूक्ष्म-भूत प्रकृति के कार्य हैं, परन्तु स्थूल भूतों के कारण होने से प्रकृति भी हैं इससे यह प्रकृति-विकृति दोनों है, (३) दस इन्द्रियां मन व स्थूल भूत विकृति हैं तथा (४) पुरुष न किसी की

---

१. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २२०–२२१।

२. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २१०

प्रकृति है और न किसी का कार्य ।[1] सांख्यकारिकाकार ने भी सृष्टि-क्रम के यही चार विभाजन किये हैं ।[2] महत्तत्व आदि प्रकृति के विकार क्या हैं ? इस विषय को दयानन्द अधिक स्पष्ट नहीं करते । उन्होंने इनका कहीं विशद वर्णन नहीं किया । प्रतीत होता है कि इस पर वे सांख्य से पूर्णतया सहमत हैं ।

महत्तत्व, सृष्टि क्रम में प्रकृति का प्रथम विकार है, परन्तु इस अवस्था में परम सूक्ष्म अवयव परमाणु उत्पन्न नहीं किये हुये थे । स्वामी दयानन्द विज्ञान भिक्षु के इस विचार से सहमत नहीं है कि प्रकृति की साम्यावस्था में गुण सूक्ष्म अवयवों के रूप में थे ।[3] इसके विपरीत दयानन्द का कहना है कि प्रलयावस्था में जबकि गुण अपनी वास्तविक अवस्था में विद्यमान थे । परमाणुओं का कोई अस्तित्व नहीं था क्योंकि उनका अभी निर्माण नहीं

---

१. वही, पृ० २१०

२. देखो, सांख्यकारिका न० ३ ।

३. "A different view of gunas is found in Vijanabhiksu, who regards them as subtle entities, infinite in number according to the diversity of individuals.

(Indian Philosophy Vol. 2. P. 265, Dr. S, Radhakrishnan)

हुआ था।[1] सृष्टि में परमाणु बाद में आकर उत्पन्न हुये।[2] महत्तत्व के पश्चात् अहंकार की उत्पत्ति हुई। अहंकार भेद का सिद्धान्त है। इसी से सृष्टि की पंचतन्मात्रायें पैदा हुई जो कि परमाणुरूप में थीं। अहंकार से मूलद्रव्य में पृथक्करण हुआ जिसके परिणामस्वरूप सूक्ष्म अवयवों के रूप में पंचतन्मात्राओं की उत्पत्ति हुई। इससे परमाणु प्रकृति में अहंकार के द्वारा पञ्चतन्मात्राओं के सूक्ष्मतम अवयवों में रूप में उत्पन्न हुये। वैशेषिक शास्त्र परमाणुओं को द्रव्य के परम सूक्ष्म अवयवों के रूप में कहता है। इसमें और परमाणु को कार्य कहने वाले स्वामी दयानन्द के सिद्धान्त में कोई विरोध नहीं है। इस पर प्रश्न किया जा सकता है कि सांख्य के गुणवाद व वैशेषिक के परमाणुवाद का तो मौलिक मतभेद है फिर स्वामी दयानन्द इन दोनों को ही सत्य कैसे मान सकते हैं? यही स्वामी दयानन्द की मौलिकता है कि वे इसे सृष्टि वर्णन का क्रम-भेद मानकर षड्दर्शनों में समन्वय स्थापित कर देते हैं।[3] सांख्यों ने परमाणुओं को प्रकृति का कार्य माना है।[4] परन्तु पञ्चतन्मात्राओं के रूप में उद्भूत होने से प्रकृति-विकृति की अवस्था में आ जाते हैं। इससे ये प्रकृति के परम सूक्ष्म अवयव भी कहे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त सांख्य के गुण परमाणु की

---

१. 'परमाणवोऽपिनासन्'। दयानन्द ग्रन्थमाला भा०, २ पृ० ४०१

२. 'नित्यायाः सत्व रजस्तमसां साम्यावस्थायाः प्रकृतेरुत्पन्नानां पृथक्-पृथक् वर्तमानानां तत्त्वपरमाणूनां प्रथम संयोगारम्भः संयोग विशेषादवस्थान्तरस्य स्थूलाकार प्राप्तिः सृष्टिरुच्यते'। सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २२३

३. सत्यार्थ प्रकाश पृ० २२२

४. सां० सू०, ५.८७

त्रिखंडित हुई शक्ति हैं। विखण्डन के पश्चात् परमाणु अवयवों में विभाजित न होकर सत्व, रज व तम में परिवर्तित हो जाता है। इससे भी परमाणु को अवयव की दृष्टि से परम सूक्ष्म कहा जा सकता है। परमाणु के विखण्डन के विषय में आधुतिक विज्ञान भी ठीक इसी प्रकार कहता है। विज्ञान के अनुसार परमाणु (Atom) विखण्डनीय है। खण्डित होकर यह तीन रूपों प्रोटोन, इलेक्ट्रोन व न्यूट्रोनों में विभाजित हो जाता है। इसमें प्रोटोन परमाणु की नाभि में शान्त भाव से स्थित रहते हैं तथा धनावेशयुक्त होते हैं, ये इलेक्ट्रानों की ऋणावेशयुक्त शक्ति का सन्तुलन करते रहते हैं। इलेक्ट्रोन ऋणावेशयुक्त होते हैं तथा नाभि के चारों ओर तीव्र वेग से परिक्रमा करते हैं। न्यूट्रोन नाभि में प्रोटोनों के साथ निष्क्रिय भाव से विद्यमान रहते हैं तथा ये आवेशरहित होते हैं। विज्ञान की प्रोटोन, इलेक्ट्रोन व न्यूट्रोन की मान्यता सांख्यों के सत्व, रज व तम ही हैं। विज्ञान इन्हीं तीनों से परमाणुओं की उत्पत्ति मानता है।

परमाणु की व्याख्या ठीक वैशेषिक के अनुसार करते हुए दयानन्द कहते हैं कि 'सबसे सूक्ष्म टुकड़ा अर्थात् जो काटा नहीं जाता उसका नाम परमाणु, साठ परमाणुओं से मिले हुये का नाम अणु है।' परमाणुओं से पांच स्थूलभूत किस प्रकार बने इस पर दयानन्द कहते हैं कि "दो अणु का एक द्वयणुक जो स्थूल वायु है, तीन द्वयणुक का अग्नि, चार द्वयणुक का जल, पांच द्वयणुक की पृथिवी आदि दृश्य पदार्थ होते हैं।"[1] यमुनाचार्य के विचार में सूर्य के प्रकाश में दीख पड़ने वाले सूक्ष्म अवयव जो कि त्रसरेणु हैं, प्रकृति के सूक्ष्मतम अवयव हैं। यमुनाचार्य की यह धारणा न तो प्राचीन वैदिक शास्त्रों के अनुकूल है और न आधुनिक विज्ञान के ही। स्वामी दयानन्द तीन द्वयणुकों का एक

---

१. सत्यार्थप्रकाश, पृ० २३०

त्रसरेणु बताते हैं। तीन द्वयणुकों से एक दृश्यमान अवयव बन सकता है, यह भी संदेहास्पद है। जबकि विज्ञान के अनुसार कई हजार परमाणुओं का संघात ही दृश्यमान हो सकता है। उपनिषदों में परमाणु के आकार को बाल के अग्रभाग के दस हजारवें भाग के बराबर बताया है। अतः दो या तीन द्वयणुकों का संघात दृश्यमान नहीं होता।

दयानन्द अपने इस विचार की पुष्टि में वेद व उपनिषदों से अनेक मन्त्र प्रस्तुत करते हैं और अपनी विचारधारा को वास्तविक रूप से वैदिक साहित्य की सही-सही विचारधारा के अनुकूल लेकर चलना ही उनका यत्न रहा है। सृष्टि विवरण में भी वे उपनिषदों के मन्त्र अपने पक्ष में प्रस्तुत करते हैं। तैतिरयोपनिषद् के एक मन्त्र के अर्थ में वह कहते हैं "उस परमेश्वर और प्रकृति से आकाश, अवकाश अर्थात् जो कारणरूप द्रव्य सर्वत्र फैल रहा था उसको इकट्ठा करने से अवकाश उत्पन्न सा होता है, वास्तव में अवकाश की उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि बिना आकाश के प्रकृति और परमाणु कहां ठहर सकें? आकाश के पश्चात् वायु, वायु के पश्चात् अग्नि, अग्नि के पश्चात् जल, जल के पश्चात् पृथिवी, पृथिवी से औषधि, औषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य वीर्य से पुरुष अर्थात् शरीर उत्पन्न होता है।[1] आकाश दो प्रकार का है एक शून्याकाश जिसमें समस्त सृष्टि वर्तमान है, जिसका लिंग प्रवेश व निकलना है तथा दूसरा शब्द का माध्यम है जिसका गुण शब्द है। वायु का गुण स्पर्श है, परन्तु इसमें उष्णता व शीतलता, तेज और जल के योग से रहते हैं। अग्नि का गुण रूप तथा स्पर्शवान् है। रस जल का स्वाभाविक गुण है, इसके अतिरिक्त जल में शीतलता भी है तथा स्पर्श और रूप गौणिक हैं, गन्ध पृथिवी का स्वाभाविक गुण है, स्पर्श, रूप व रस, वायु, अग्नि व जल के संयोग से हैं।

---

१. सत्यार्थप्रकाश, पृ० २२२

स्वामी दयानन्द ब्रह्माण्ड की रचना में वैदिक मंत्रों के साक्ष्य से आकाशीय पिण्डों की स्थिति व क्रिया-सिद्धांतों का बड़ा रोचक वर्णन करते हैं। वह कहते है कि हमारी पृथ्वी व खगोल के अन्य आकाशीय पिण्ड परमात्मा ने पंचभूतों से उत्पन्न किये हैं। वेदादि शास्त्रों में ईश्वर को इसलिये विश्वकर्मा कहा है कि वह विश्व का रचने व धारण करने वाला है। उनका कथन है कि इस ब्रह्माण्ड में हमारे सूर्य जैसे करोड़ों सूर्य हैं जो पृथक-पृथक अपने सौरमण्डल के ग्रह-परिवार को प्रकाशित करते है।[1] हमारी पृथ्वी आरम्भ में सूर्य का ही एक भाग थी, बाद में उससे पृथक हुई। पृथ्वी, सूर्य इत्यादि पिण्ड आकाश में गति व आकर्षण के कारण ही अपनी-२ कक्षा में स्थिर हैं। वेदों में पृथ्वी आदि के लिये गौ शब्द का प्रयोग किया है इससे स्वामी दयानन्द का कथन है कि वेद इन पिण्डों को गतिशील कहता है।[2] "पृथ्वी सहित सौरमण्डल के अन्य ग्रह अपने उपग्रहों के साथ सूर्य के चारों ओर भ्रमण करते हैं इनके मार्ग निश्चित हैं। चन्द्रमा पृथ्वी का उपग्रह है।"[3] सूर्य भी भ्रमणशील है। दयानन्द कहते है कि "सूर्य अपनी परिधि में घूमता है किन्तु किसी लोक के चारो ओर नहीं घूमता।"[4] इसका तात्पर्य हैं कि सूर्य तीव्रगति से वृत्ताकार परिधि में घूमता है परन्तु इस वृत का कोई केन्द्र पदार्थ नहीं है। कुछ विद्वान इसका अर्थ लेते हैं कि सूर्य अपनी कीली पर घूमता है परन्तु परिधि (वृत्ताकार) में नहीं घूमता। बहुत काल तक नक्षत्र-विज्ञान भी इसी को मानता रहा है कि तारे अचल हैं और सूर्य एक तारा है अतः यह भी अचल है तथा ग्रह चलते हैं जैसे पृथ्वी एक ग्रह है और सूर्य के चारो ओर घूमती है। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी में ही दयानन्द ने वैदिक प्रमाणों से हमें बता दिया था कि आकाश का कोई भी गुरु पदार्थ बिना घूमे स्थिर नहीं रह

---

१. सत्यार्थप्रकाश पृ०२३२
२. दयानन्द-ग्रन्थमाला जा०, २ पृ० ४३० शताब्दी संस्करण
३. वही,पृ०४३१।
४. सत्यार्थप्रकाश, पृ० २३२।

सकता। इससे सूर्य भी घूमता है।[1] परन्तु दयानन्द के अनुसार सूर्य किसी लोक विशेष के चारो ओर नहीं वरन् बिन्दु के चारो ओर घूमता है। गैलिलियों से पूर्व यह समझा जाता रहा कि पृथ्वी इस ब्रह्माण्ड का केन्द्र है और सूर्यादि समस्त ग्रह-नक्षत्र इस पृथ्वी की ही प्रदक्षिणा कर रहे हैं। गैलिलियों ने इस भ्रम को दूर कर सूर्य को ब्रह्माण्ड का केन्द्र बताया। परन्तु अब सूर्य भी ब्रह्माण्ड का केन्द्र नहीं माना जाता जबकि सूर्य स्वयं अपने सौर मण्डल के साथ किसी अन्य पिण्ड या बिन्दु की प्रदक्षिणा कर रहा है।[2] यहाँ स्वामी दयानन्द का नक्षत्र-विज्ञान से मतैक्य प्रतीत होता है। दयानन्द की इसमें विशेषता यह है कि उन्होंने अब से लगभग अस्सी वर्ष पूर्व यह सब वेद के अधार पर कह दिया था। वे आंग्ल भाषा के विद्वान नहीं थे इससे विज्ञान की किसी आधुनिक प्रणाली का उन्हें ज्ञान नहीं था। इससे उनकी वेद में ज्ञान-विज्ञान संबन्धी मान्यता को बल मिलता है। और यह भी सम्भव प्रतीत होता है कि यदि वेदों का वैज्ञानिक बुद्धि से अध्ययन किया जाय तो विज्ञान व ब्रह्माण्ड सम्बन्धी और भी नवीन तथ्य सामने आ सकते है। सौर मण्डल के परिवारीय पिण्ड सूर्य के आकर्षण से अपनी कक्षा में घूमते हैं। सूर्य पृथ्वी आदि का आकर्षण करता है तथा परमदेव परमात्मा समस्त ब्रह्माण्ड को अपने आर्कषण से थामे हुये है।

आगे स्वामी जी कहते हैं कि वेद कहता है कि परमात्मा ने प्रत्येक लोक के चारो ओर सात-सात परीधियें रची हैं, अर्थात् पृथ्वी के चारों ओर सात आवरण हैं इनमें "पहिला समुद्र, दूसरा त्रसरेणु सहित वायु, तीसरा

---

१. दयानन्द ग्रन्थमाला भाग २, पृ० ४३२ व स० प्रकाश, पृ० २३३

२. 'तारों का विचित्र दशा है। उनकी परिभाषा ही गलत हो गयी। समझा जाता था कि ग्रह चलते हैं, तारा अचल है। पर यह ठीक नहीं है। तारे भी चलते हैं हमारा सूर्य अपने सारे कुटुम्ब के साथ उस दिशा में चला जा रहा है जिधर अभिजित नक्षत्र है।'''सूर्य भी किसी बिन्दु की परिक्रमा कर रहा होगा। इसकी परिक्रमा करने में सूर्य को २० करोड़ वर्ष लगते है।" (सूचना पंचांग सम्वत २०१६ पृ० ३६, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ)

मेघमण्डल का वायु, चौथा वृष्टि जल, पांचवा वृष्टि जल से ऊपर एक प्रकार की वायु, छटा अत्यन्त सूक्ष्म वायु जिसको धनंजय कहते हैं तथा सातवां सूत्रात्मा वायु जो कि धनजय से भी सूक्ष्म है।"[1] स्वामी दयानन्द का इनसे क्या तात्पर्य है यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया, परन्तु विज्ञान की रोशनी में देखने पर इन सात परीधियों के वैज्ञानिक रहस्य का पता चलता है। वैज्ञानिक गवेषणाओं से पता चला है कि पृथ्वी के चारो ओर तीन आवरण हैं। पृथ्वी के धरातल के ऊपर दस मील तक की वायु को टोपोस्फियर, इसके ऊपर बीस मील स्ट्रेटोस्फियर तथा सबसे ऊपर के मण्डल को आयनोस्फियर कहते हैं। निम्नतम भाग टोपोस्फियर में आक्सीजन, नाइट्रोजन तथा कुछ और गैसें मिलती हैं। इससे ऊपर चलकर गैसों के अणु परमाणुओं में विभक्त हो जाते है, उदाहरण के लिए आक्सीजन के अणु में आक्सीजन के दो परमाणु होते है, स्ट्रेटोस्फियर में ये अलग-२ हो जाते है। इससे ऊपर चलकर परमाणु भी धन-विद्युन्मय व ऋण विद्युन्मय कणों में विखण्डित हो जाता है। इस विखण्डन-क्रिया का कारण यह है कि सूर्य में हो रहे विस्फोटों के परिणामस्वरूप हाइड्रोजन के कण सूर्य से निकलकर करोड़ों मील दूर तक फैल जाते हैं। वैज्ञानिकों का विचार है कि यह कण पृथ्वी की तरफ आइनोस्फियर तक पहुंचते हैं जहां पर इनकी टक्कर आक्सीजन के परमाणुओं से होती है, इस टक्कर से ये परमाणु विखण्डित हो जाते हैं। आइनोस्फियर के कारण सूर्य में हो रहे विस्फोटो का घातक प्रभाव हमारी पृथ्वी तक आने से रुक जाता है। पृथ्वी के चारों ओर सात परीधियें निर्माण करने से परमात्मा का तात्पर्य क्या रहा, यह दयानन्द ने सम्भवतः स्थानाभाव के कारण न स्पष्ट किया हो। परन्तु यह स्पष्ट हैं कि इनका तात्पर्य पृथ्वी की, अन्तरिक्ष की शक्तियों के घातक प्रभाव से रक्षा करना भी रहा होगा। वास्तव में वेद में वर्णित सात परीधियों का वैज्ञानिक रहस्य है। यह इससे भी स्पष्ट है कि इनमें से प्रत्येक एक दूसरे से उत्तरोतर सूक्ष्म है। स्वामी दयानन्द जिसे धनंजय कहते हैं वह स्ट्रेटोस्फियर और सातवां

१. दयानन्द ग्रन्थमाला, भाग २, पृ ४१८

सुसूक्ष्म सूत्रात्मा आइनोस्फियर से मिलते हैं बाकी पाचों परीधियां टोपोस्फियर के ही पांच भेद हैं।

स्वामी दयानन्द का मत है कि यह समस्त ब्रह्माण्ड, जिसमें सूर्य जैसे एवं इससे भी बृहत करोड़ों पिण्ड हैं आश्चर्यजनक रूप से बृहद् हैं। परन्तु परमात्मा के सम्मुख तुच्छ एवं उसके किंचितमात्र प्रदेश में है।[1] परमात्मा अनन्त है विश्व सान्त। परमात्मा विश्व को अपने अन्दर धारण किये हुए है, विश्व उस परम पुरुष के एक प्रदेश में है। इस शताब्दी के महान् वैज्ञानिक आईन्स-टीन का निष्कर्ष भी यही था कि यह ब्रह्माण्ड यद्यपि निरन्तर वृद्धि को प्राप्त हो रहा है तथापि यह असीम नहीं है।[2] परमात्मा समस्त विश्व में ओत-प्रोत हुआ सबको धारण कर रहा है इसी से ईश्वर को यजुर्वेद में 'विभु प्रजासु' (यजुर्वेद में ३२·८) कहा है।

जैसी सृष्टि हमारी इस पृथ्वी पर है अन्य ग्रहों पर भी जीव सृष्टि है या नहीं? इसके उत्तर में स्वामी दयानन्द कहते हैं कि अन्य ग्रहों पर भी सृष्टि होगी, परन्तु शरीर की बनावट में भेद होगा। वह कहते हैं कि इसी पृथिवी पर भिन्न-भिन्न स्थानों के निवासियों की आकृति में जलवायु के कारण भेद हो जाते हैं फिर दूसरे ग्रह-नक्षत्रों के जीवों के शरीरों में भेद हो तो क्या आश्चर्य है। फिर वह कहते हैं कि परमात्मा ने अन्य ग्रहों पर भी मानवीय सृष्टि में पृथ्वी के समान वेदरूपी ज्ञान का प्रकाश किया है।[3]

कल्प के आदि में परमात्मा सृष्टि का निर्माण उसी प्रकार करता है जैसे उससे पूर्व कल्प में किया था सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय दिन और

---

१. (i) दयानन्द ग्रन्थमाला भा० २ पृ ४०८ श० सं०। (ii) 'अनन्त परमात्मा के सम्मुख असंख्यात् लोक एक परमाणु के तुल्य भी नहीं कहे जा सकते।' सत्यार्थप्रकाश पृ० २३१

२. सूचना पंचांग सं० २०१६ पृ० ४०। उ० प्र० सरकार लखनऊ, सूचना विभाग द्वारा प्रकाशित।

३. सत्यार्थप्रकाश, पृ० २३४

रात की तरह चलते रहते हैं। इसी से दयानन्द सृष्टि-क्रिया को क्रम से अनादि कहते हैं।[1] जब जगत् का कारण प्रकृति अनादि है तो सृष्टि-क्रिया भी अनादि होगी, इसे मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं है।

स्वामी दयानन्द का सृष्टि उत्पत्ति क्रिया का वर्णन अपने में वैज्ञानिक है एवं इसकी मुख्य-२ बातें आधुनिक विज्ञान की खोजों से पूर्णतया मेल खा जाती है। जिस समय स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थों को रचना की थी (१९सवीं शताब्दी के मध्य में) तब तक विज्ञान को ब्रह्माण्ड से सम्बन्धित कम से कम उन तथ्यों का पता नहीं था जो आइन्सटीन ने इसे दिये हैं। उस समय भी स्वामी जी उन्हें जानते थे। इसमें महर्षि दयानन्द वेद का सहारा पकड़ते हैं कि वेद के मन्त्रों में ज्ञान-विज्ञान भरा हुआ है और अपने ग्रन्थों में ब्रह्माण्ड सम्बन्धी तथ्यों का उन्हीं के आधार पर व्याख्यान करते हैं। उनकी मौलिकता इसी में है कि उन्होंने वेद के अन्दर छिपे हुये प्रकृति सबन्धी रहस्यों को खोल दिया तथा निर्भयतापूर्वक उनका प्रतिपादन किया है। जहां उनके कुछ दावे आज वैज्ञानिक जगत् में स्वीकार्य हैं वहाँ अभी कुछ अतिश्योक्ति-पूर्ण भी लगते हैं। परन्तु यह तो आज माना जाने लगा है कि ब्रह्माण्ड के अन्य पिण्डों पर भी यहां के समान सृष्टि होगी परन्तु जलवायु के भेद से आकृति भेद होंगे। दूसरे लोकों में भी पृथिवी के समान ही वेदों का प्रकाश परमात्मा ने किया होगा यह अभी तो स्वीकार नहीं किया जा सकता। हां जब कोई मानव किसी नक्षत्र की यात्रा कर इस तथ्य को स्वयं देख लेगा तब अवश्य स्वीकार कर लिया जायेगा और फिर स्वामी दयानन्द के वेद-सम्बन्धी सारे दावे बिना शर्त स्वीकार कर लिये जायेंगे। परन्तु साथ ही हम स्वामी जी के कथन को निर्मूल भ्रम मानकर बातों में भी नहीं उड़ा सकते जबकि उनके वेद-सम्बन्धी अन्य अनेक दावे सत्य सिद्ध हो चुके हैं।

---

१. वही, पृ० २३४

७

प्रमाण—विद्या

(EPISTEMOLOGY)

भूमिका—भारतीय दर्शन में ज्ञान किसे कहते हैं ? ज्ञान प्राप्ति के क्या साधन हैं ? ज्ञाता एवं ज्ञेय तथा सत्य और भ्रमित ज्ञान इत्यादि विषयों पर पर्याप्त विचार पाये जाते हैं। उपनिषदों में ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय इत्यादि विषयों पर सन्दर्भानुसार विचार तो पाये जाते हैं परन्तु ज्ञान और उनके साधन आदि विषयों पर प्रमाणशास्त्र की दृष्टि से विवेचन नहीं है। इनका सूक्ष्म विवेचन बाद में षड्दर्शनों में और विशेष रूप से न्याय-दर्शन और उससे भी सूक्ष्म रूप में इन दर्शनों पर लिखे गये भाष्य, टीका व वृत्ति आदि में हुआ है। प्रमाण-शास्त्र दर्शन शास्त्र का सहयोगी अंग है। प्लेटो व अरिस्टोटल के तात्विक विवेचन में इस पर काफी विचार किया गया है। परन्तु सोफिस्टों के लिये यह सत्य को जानने का एकमात्र साधन था जिसके परिणामस्वरूप वे संशयवाद की भूल-भुलैयां में फंस गये। लेकिन प्लेटो और एरिस्टोटल इसे दर्शन के सफल सहयोगी के रूप में प्रयोग करते हैं। न्यायदर्शन प्रमाणविद्या के विवेचन से पूर्व ही यह घोषणा कर देता है कि वह इस शास्त्र का प्रयोग सत्य ज्ञान की प्राप्ति एवं उसके फलस्वरूप दुखों के अत्यन्त अभावरूपी मोक्ष की प्राप्ति में करता है। न्यायसूत्रों के अनुसार यह शास्त्र मनुष्यों की ज्ञानकला का वैज्ञानिकीकरण करता है। इस शास्त्र में, ज्ञान के अवरोधक क्या हैं, सही विचार किस प्रकार किया जाय जिससे सही-सही निर्णयों को प्राप्त किया जा सके ? इत्यादि प्रश्नों पर निष्पक्ष भाव से विवेचन किया जाता है।

कुछ दार्शनिक पहले से ही इसके विषय में स्थिर धारणायें बनाकर चलते हैं जिनसे बाहर निकलकर चिन्तन करना उनके सिद्धान्त के विरुद्ध हैं। ऐसे दार्शनिक यदि प्रारम्भ में ही भ्रान्त आधार बना लें तब या तो वे विचारों की अंधेरी तंग य बन्द गलियों में भटकते रहते हैं और यदि वे भूल सुधार के पक्षपाती हैं तो उस आधार को ही छोड़ देते हैं। चाहे हम प्रारम्भ में किसी भी विचार से सत्य की खोज करें, यदि हम वास्तव में सत्य को जानना चाहते हैं और हमारे मस्तिष्क के द्वार सत्य के लिये खुले हुए हैं अर्थात् हठधर्मी नहीं हैं, तब हम असंगत, य तर्कहीन विचारों को एक के बाद एक को छोड़कर सत्य की ओर अग्रसर होने लगेंगे। बस यही स्वामी दयानन्द के ज्ञान-शास्त्र का आधार है। उनके लिये प्रामाण्य-विवेचन इसलिये उपयुक्त है कि हमें उससे अधिक से अधिक सत्य की प्राप्ति होती है। दयानन्द के लिये तर्क, तर्क के लिये नहीं वरन् यथार्थ ज्ञान के लिये है।

हम ज्ञान कैसे प्राप्त करते हैं? इस विषय पर विद्वानों में परस्पर काफी मतभेद पाया जाता है और उससे भी अधिक विवाद, प्राप्त ज्ञान की सत्यता और असत्यता के सम्बन्ध में हैं। भौतिकवादी दार्शनिक किसी स्थायी ज्ञाता को नहीं मानते तथा उनका मत है कि ज्ञान केवल प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा प्राप्त किया जाता है। इनके लिये जगत् सत्य है और आत्मा भौतिक विकार है। दूसरी तरफ़ विज्ञानवादी बौद्ध विज्ञान को ही बाहर भासता कहते है जबकि बाहर कुछ नहीं है और आनन्द यह है कि ज्ञाता स्वयं सकन्धों व सस्कारों का संघात हैं। इससे ये ह्यूम की तरह संस्कारवादी (Solipisist) हो जाते हैं। भौतिकवादियों में बिना ज्ञाता के ज्ञान कैसे सम्भव होगा, यह एक समस्या है। दूसरे, केवल प्रत्यक्ष को ही यदि एक प्रमाण मानें तो इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान सत्य होना चाहिये। ऐसी अवस्था में भ्रम की कोई सत्ता नहीं रहेगी। इसी प्रकार विज्ञानवादी के कथनानुसार यदि विज्ञान ही बाहर भासता है तब रज्जु में सर्प की भ्रान्ति भ्रम नहीं हो सकती। इस मत में भी भ्रम की व्याख्या नहीं की जा सकती। प्रमाण-शास्त्र में ज्ञान के सम्बन्ध में उत्पन्न होने वाली इन सभी समस्याओं पर समुचित विचार करना आवश्यक है।

दयानन्द का प्रमाण-शास्त्र (Epistemology)

स्वामी दयानन्द एक यथार्थवादी दार्शनिक हैं इसलिये उनका प्रमाणशास्त्र भी यथार्थवाद के अनुरूप ही है। उनके प्रमाणशास्त्र के विषय में हमारा विवेचन इस प्रकार रहेगा।

(१) ज्ञाता के बिना ज्ञान सम्भव नहीं इसलिये कोई ज्ञाता है।

(२) ज्ञाता के अतिरिक्त ज्ञेय का भी पृथक अस्तित्व है, अन्यथा ज्ञान किसका ?

(३) ज्ञाता और ज्ञेय के सम्बन्ध में इन्द्रियें साधन हैं।

(४) प्रमाण विवेचन।

(५) क्या जो कुछ हम जानते है सब सत्य है यदि नहीं तो असत्य ज्ञान क्या है ?

(६) सत्य ज्ञान का क्या स्वरूप है ?

ज्ञाता की सत्ता—देकर्ट की प्रसिद्ध कहावत "मैं चिन्तन करता हूं इसलिये मैं हूं" हमारी पहली समस्या की ओर संकेत करती है कि ज्ञान-क्रिया के पीछे कोई ज्ञाता है। क्योंकि यदि मैं सोचने वाला नहीं हूं तब विचार-क्रिया ही नहीं हो सकती। इसमें अनुभूति भी नहीं होती, उसमें इच्छा भी नहीं होती और दुख-सुख व संसार आदि का भी ज्ञान नहीं होता। इससे यही जान पड़ता है कि ज्ञाता के बिना ज्ञान संभव नहीं है। हमें किसी बस्तु का ज्ञान हो या न हो परन्तु दोनों ही स्थिति में 'अहम्' जो ज्ञाता है वह रहता ही है। स्वामी दयानन्द चारवाकों के अनात्मवाद के विरुद्ध तर्क में कहते हैं कि "जब जीव शरीर से पथक हो जाता है तब शरीर में ज्ञान कुछ भी नहीं रहता। ..... जिसके संयोग से चेतनता और वियोग से जड़ता होती है वह देह से पृथक है जैसे आंख सबको देखती है परन्तु अपने को नहीं। इसी प्रकार प्रत्यक्ष का करने वाला अपना ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं कर सकता जैसे अपनी आँख से सब घटपटादि पदार्थ देखता है वैसे आँख को अपने ज्ञान से देखता है। जो दृष्टा ही रहता है दृश्य कभी नहीं होता जैसे बिना आधार आधेय, कारण के बिना कार्य, अवयवी के बिना अवयव और कर्त्ता के बिना कर्म नहीं रह सकते वैसे कर्त्ता ज्ञाता के

बिना प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है।"[1] स्वामी जी यहां पर एक और तथ्य की ओर निर्देश करते हैं कि ज्ञाता सदैव ज्ञाता ही रहता है ज जैसे सबको देखने वाला चक्षु अपने आपको नहीं देख सकता इसी प्रकार आत्मा जो कि ज्ञाता है कभी ज्ञेय नहीं होता। परन्तु अन्य पदार्थों को अपने स्वाभाविक ज्ञान से अर्थात् ज्ञान शक्ति से जान लेता है। ह्यूम आत्मा को ज्ञेय रूप में जानना चाहते थे परन्तु जब कभी वे आत्मा का ज्ञान करना चाहते थे उन्हें सदैव ही चित्त में बहने वाले विचार यानि वृत्ति-प्रवाह ही दृष्टिगोचर होता था जो आत्मा के संस्कार हैं। कान्ट इसीलिये आत्मा को अज्ञेय कहते हैं। उनके मत में आत्मा प्रत्यक्ष-समन्वय करण करने वाली तात्विक शक्ति (Transcendental Unity of Apperception) है। 'मैं विचारता हूँ इसीलिये मैं हूं' देकर्त की यह प्रसिद्ध उक्ति केवल विचारक्रिया की ही स्थिति में ज्ञाता की सिद्धि कर सकती है। गाढ़ निद्रा के समय में चिन्तन कार्य बन्द हो जाता है तब क्या ज्ञाता समाप्त हो जाता है? नहीं, निद्रा से उठकर हम कह सकते हैं कि मैं सुख से सोया। यह सुख की अनुभूति करने वाला निद्रा में भी था। चिन्तन करना ज्ञाता का एक ही गुण नहीं और ना ही उसकी सत्ता का एकमात्र लक्षण है। इसलिये हमें देकर्त की उक्ति 'मैं विचारता हूं इसलिये मैं हूं' के स्थान पर यह कहना चाहिये कि 'मैं हूं इसलिये मैं विचारता हूँ'। ज्ञाता का अस्तित्व स्वयंसिद्ध और ज्ञान प्राप्ति में अवश्यम्भावी है। इसको ज्ञेय रूप में नहीं जाना जा सकता जैसा कि ह्यूम ने उसे जानने की भूल की है। सर्वशून्य मानने वाले अनात्मवादी बौद्धों की आलोचना में भी दयानन्द ज्ञाता के बिना ज्ञान को असंभव बताते हुये कहते हैं कि "शून्य को शून्य नहीं जान सकता इसलिये ज्ञाता और ज्ञेय दो पदार्थ सिद्ध होते हैं।"[2]

ज्ञेय का अस्तित्व—ज्ञाता के अतिरिक्त एवं ज्ञाता से पृथक किसी ज्ञेय पदार्थ का अस्तित्व नहीं होता, प्रत्ययवादियों का यह कथन यथार्थवादी विचारकों से सर्वथा भिन्न है। यथार्थवादी इसके विपरीत कहते हैं कि ज्ञाता के साथ-साथ ज्ञेय की भी सत्ता है अन्यथा बिना ज्ञेय के ज्ञान किसका? इसके

---

१. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ५२२ २. सत्यार्थ प्रकाश पृ० ४२८

उत्तर में प्रत्ययवादी तर्क देते हैं कि भौतिक पदार्थ, जिस रूप में वे जाने जाते हैं, केवल अनुभूतियां हैं क्योंकि हम कभी भी पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं करते हमेशा ही मन को कुछ अनुभूतियां प्राप्त होती हैं जिनके आधार पर हम किसी पदार्थ को जानते हैं। परन्तु ये अनुभूतियें अन्तःकरण से पृथक नहीं रह सकतीं इसलिये सांसारिक पदार्थ अन्तरस्थ या आत्मा में हैं। विज्ञानवादी बौद्ध का कथन है कि आन्तरिक विज्ञान ही बाह्य पदार्थवत् भासता है। वास्तव में विज्ञान के अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है और जिस प्रकार स्वप्न में आत्मा स्वमेव पदार्थों का निर्माण कर लेता हैं परन्तु वास्तव में सब मिथ्या है उसी प्रकार जाग्रत के पदार्थ हैं। स्वामी शंकराचार्य विज्ञानवादियों के इस कथन को कि आन्तरिक विज्ञान बाहर पदार्थवत् भासता है, इसी प्रकार बताते हैं जैसे कोई कहे कि विष्णुदत्त बन्ध्यापुत्र सा भासता है।[1] यर्थात् विचार अमूर्त हैं वे इसी प्रकार पदार्थ रचना नहीं कर सकते जैसे बन्ध्या के पुत्र नहीं हो सकता। स्वामी दयानन्द इन विज्ञानवादी बौद्धों की आलोचना में कहते हैं कि "जो योगाचार बाह्य शून्यत्व मानता है तो पर्वत इसके भीतर होना चाहिये और जो कहें कि पर्वत भीतर है तो उसके हृदय में पर्वत के समान आकाश कहां ?" इसलिये पर्वत बाहर है और 'पर्वत ज्ञान आत्मा में रहता है।"[2]

प्रत्ययवादयों (Idealists) के पक्ष में एक भूल है कि एक तरफ तो वे यह मानते हैं कि वस्तुयें अनुभूतियों से जानी जाती हैं, परन्तु इससे यह निष्कर्ष कहां निकलता है कि वस्तुयें भी अनुभूति ही हैं। उदाहरणार्थ विष्णुदत्त अपने अपार धन के कारण संसार में जाना जाता है परन्तु इससे विष्णुदत्त तो धन नहीं ही जाता। सत्य यह हैं कि अनुभुतियों द्वारा पदार्थ जाना जाने से यह सिद्ध होता है कि अनुभूतियां किसी पदार्थ द्वारा उत्पन्न होती हैं और यदि वह पदार्थ न हो तो अनुभूतियां भी नहीं हो सकती। संसार का अस्तित्व किसी भी रूप में हम पर आश्रित नहीं है। हमारे लाख प्रयत्न करने पर भी कोई भौतिक

---

१. ब्रह्मसूत्र, २–२–२८ पर शंकर भाष्य।

२. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ४२८, ४२९

पदार्थ ऐसा नहीं बन सकता जिसका उपादान हमारे विचारमात्र हों। और जो विज्ञानवादी यह कहें कि स्वप्न के समान पदार्थों का निर्माण हो सकता है इस पर स्वामी दयानन्द तर्क देते हैं कि "स्वप्न बिना देखे व सुने कभी नहीं आता, जो जाग्रत अर्थात् वर्तमान समय में सत्य पदार्थ हैं उनके साक्षात् सम्बन्ध से प्रत्यक्षादि ज्ञान होने पर सस्कार अर्थात् उनका वासनारूप ज्ञान आत्मा में स्थित होता है, स्वप्न में उन्हीं को प्रत्यक्ष देखता है।"[1] अर्थात् स्वप्न की सत्ता भी जाग्रत पर आधारित है। फिर यदि जाग्रत की सत्ता न हो तो स्वप्न भी नहीं हो सकते। और जो यह कहें कि जाग्रत और स्वप्न दोनों ही विचारों से निर्मित हैं। आत्मा जाग्रत में संसार में और स्वप्न में अपने ही में सब कुछ प्रत्यक्ष करता है तो दयानन्द कहते हैं "जो संस्कार के बिना स्वप्न होवें तो जन्मान्ध को भी रूप का स्वप्न होवे" अर्थात् ज्ञेय की अनुपस्थिति में ज्ञान का आधार पूर्व संस्कार होते हैं। जन्मान्ध को जाग्रत में सांसारिक रूप का प्रत्यक्ष नहीं होता इसी से सोते में भी रूप का स्वप्न न आने से यह सिद्ध होता है कि स्वप्न भी जाग्रत के संस्कारों पर ही आश्रित हैं। फिर यदि जाग्रत को भी संस्कारों द्वारा निर्मित कहें तब संस्कार आत्मा में कब और कहां उत्पन्न हुए यह बताना असम्भव हो जायेगा। इससे यही सिद्ध होता है कि जाग्रत का संसार आत्मस्थ नहीं वरन् ज्ञेय रूप में ज्ञाता से पृथक है।

संसार मायारूप मिथ्या और ब्रह्म ही सत्य है। संसार की सत्ता रज्जु में सर्पवत् भ्रान्त है क्योंकि ब्रह्म का परिणाम नहीं होता वरन् जीव ब्रह्म में अविद्या से जगत् की मिथ्या प्रतीति करता है, इत्यादि मत वाले ब्रह्मवादी भी आदर्शवादियों की ही में कोटि में आते हैं। जिनके अनुसार जगत् के समस्त पदार्थ मिथ्या कल्पना होने से अविद्यामात्र हैं। एव ज्ञान और ज्ञेय का भेद-व्यापार मिथ्या है।[2] और यह मिथ्या कल्पना करने वाला भी जीव ही है जो ब्रह्म

---

१. वही पृ० २१९

२. "अविद्याकल्पितम् वेद्यवेत्तिवेदना भेदम्"। ब्रह्म सूत्रोंपर शांकर भाष्य से ब्रह्म सूत्र १।१।४

में संसार की मिथ्या उपलब्धि करता है। माण्डूक्योपनिषद् पर लिखी गौण-पादीय कारिकाओं पर भाष्य में श्री शंकराचार्य जी जगत् के पदार्थों को इसलिये मिथ्या बताते हैं कि वे दृश्यमान् है।"[1] अर्थात् जाग्रत के पदार्थ मिथ्या हैं यह प्रतिज्ञा है, दृश्यमान होने से यह हेतु है, स्वप्नों में देखे पदार्थों के समान यह उदाहरण है। जिस प्रकार वहां स्वप्न में देखे हुए पदार्थों का मिथ्यात्व है उसी प्रकार जगत में भी उनका दृश्यत्व समानरूप से है यह हेतूपनय है। अतः जाग्रत में भी उनका मिथ्यात्व माना गया है यह निगमन है। यहां पर शंकराचार्य जी का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार स्वप्न के पदार्थों का जाग्रत मे बाध हो जाता है उसी प्रकार जाग्रत के पदर्थों का तुरीय में बाध हो जाता है। इस प्रकार जाग्रत का संसार एक बड़ा भ्रम है।[2] लेकिन स्वामी दयानन्द पहले ही कह चुके हैं कि स्वप्न तथा भ्रम दोनों में ही पूर्व संस्कार आवश्यक हैं तब इस जगत्रूपी महान भ्रम के संस्कार किस सत्ता के हैं? रज्जु में सर्प की कल्पना का कर्त्ता अविद्याग्रस्त होता है तब क्या जगत् भ्रम का द्रष्टा जो स्वयं ब्रह्म है, माया से आच्छादित है? दयानन्द का कहना है कि यह नहीं माना जा सकता क्योंकि ब्रह्म शुद्ध ज्ञानरूप है। इसके अतिरिक्त स्वामी दयानन्द कहते हैं कि कल्पना गुण है।

१. जाग्रत् दृश्यानां भावानां वैतथ्यमिति प्रतिज्ञा। दृश्यत्वादिति हेतुः स्वप्न दृश्यभाववदिति दृष्टान्तः? यथा तत्र स्वप्ने दृश्यानां भावानां वैतथ्यं तथा जागरितेऽपि दृश्यत्वमविशिष्टमिति हेतूपनयः तस्माज्जागरितेपि वैतथ्यं स्मृतमिति निगमनम्। माण्डूक्य कारिका १–४ पर शंकर भाष्य।

3. " That Shankar regards the world in the ordinary sense as illusory and the result of error just in the same way as a snake, while there is a rope only and also as something which can be sublated by the experiences of true knowledge is clear from his writings here and elsewhere," Indian Epistemoloy. P, 314. by Jwala Prasad (The Punjab Oriental Series No. XXX – 1939)

जो गुणी से पृथक नहीं रह सकती और जब कल्पना का कर्ता जीव जो स्वयं ब्रह्म है, नित्य है तो उसकी कल्पना भी नित्य मानी जाये अन्यथा कल्पक भी अनित्य होगा।[1] और कल्पना के नित्य मानने पर मोक्ष का प्रसंग निःसार हो जायेगा। इससे यही सिद्ध होता है, की ज्ञेयरूप जगत् सत् है।

ज्ञान प्राप्ति में इन्द्रियें— ज्ञाता और ज्ञेय के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाली तद्विषयक चेतना ही ज्ञान है। स्वामी दयानन्द के अनुसार आत्मा मन व इन्द्रियों के द्वारा बाह्य जगत् का ज्ञान करता है। मन आत्मा व इन्द्रियों के बीच में माध्यम है। मन प्रकाशरूप सत्व का बना होने के कारण हर अनुभूति को तद्ज्ञान में जानने की शक्ति रखता है। स्वामी दयानन्द ज्ञान-क्रिया पर अधिक विस्तार से प्रकाश नहीं डालते परन्तु तो भी इस सम्बन्ध में उनके विचार स्पष्ट हैं कि ग्रब पदार्थ— (१) सर्वप्रथम इन्द्रियों के संपर्क मे आते है जिससे विषयानुभूति पैदा होती है (२) यह अनुभूतियें जो कि विषय के गुणों की होती है मन में चली जाती हैं। (३) आत्मा मन के साथ सयुक्त होकर प्राप्त अनुभूतियों के आधार पर गुणी, जिसके वह गुण हैं का प्रत्यक्ष करता है। इस पर यह प्रश्न उठ सकता है कि हमें गुणों का प्रत्यक्ष होता है गुणी का नहीं तब इस मान्यता के आधार पर फिर गुणों को क्यों माना जाय? इस विषय में स्वामी जी का कथन है कि गुण द्रव्य से पृथक नहीं रह सकते।[2] गुण अपनी सत्ता के लिये किसी गुणी के आश्रय की अपेक्षा रखते हैं। आदर्शवादियों के मत में यही छोटी सी भूल है कि वे गुणों से द्रव्य का अनुमान नहीं करते वरन् गुणों को ही हठधार्मिता से अनुभूतिमात्र मान लेते हैं। जबकि तथ्य यह है कि अनुभूतियाँ गुणों के इन्द्रिय सम्पर्क में आने से होती हैं।

आठ प्रमाण—ज्ञाता, ज्ञान व ज्ञेय के अतिरिक्त यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति में प्रमाण अर्थात् ज्ञान के साधनों की भी विशेष महत्ता है। प्राप्त किया हुआ

१. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २१८–२१९

२. सत्यार्थ प्रकाश पृ० ५७

ज्ञान सत्य है या असत्य अथवा उसमें कितना सत्य है और कितना असत्य, इसको जानने के लिये प्राप्त ज्ञान की परीक्षा सावधानी से करनी आवश्यक है। ज्ञान की यथार्थता का बोध ज्ञान के साधनों पर किन अंशों तक निर्भर करता है, इसके लिये स्वामी दयानन्द सत्य ज्ञान की पांच प्रकार की परीक्षा बताते हैं, "एक--जो-जो ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव और वेदों से अनुकूल हो····· दूसरी—जो-जो सृष्टिक्रम के अनुकूल हो·····तीसरी—आप्त अर्थात जो धार्मिक, विद्वान, सत्यवादी, निष्कपटियों का संग, उपदेश के अनुकूल है ····· चौथी—अपनी आत्मा की पवित्रता, विद्या के अनुकूल हो·····तथा पांचवी—आठों प्रमाण अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति सम्भव और अभाव"[1] के अनुकूल हो, उसे ही सत्य मानना चाहिये।

उपरोक्त उद्धरण से पता चलता है कि दयानन्द सत्य ज्ञान की प्राप्ति में अन्य साधनों के साथ-साथ आठ प्रमाणों को मानते हैं। ये आठ प्रमाण इस प्रकार हैं प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव। प्रमाणों के विषय में दयानन्द न्यायमत पर आश्रित हैं। प्रथम चार प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, और शब्द यह चारो गौतम के न्याय सूत्रों के अनुसार हैं तथा ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव न्यायदर्शन पर वात्स्यायन भाष्य से लिए गये हैं।

प्रत्यक्ष—प्रत्यक्ष पर गौतम के सूत्र की व्याख्या में स्वामी दयानन्द कहते हैं 'जो श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण का शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के साथ अव्यवहित अर्थात् आवरणरहित सम्बन्ध होता है। इन्द्रियों के साथ मन का और मन के साथ आत्मा के संयोग से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको प्रत्यक्ष कहते हैं परन्तु जो व्यपदेश्य अर्थात संज्ञासंज्ञी के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है वह ज्ञान न हो। जैसा किसी ने कहा कि "तू जल ले आ" वह लाकर उसके पास बोला कि 'यह जल है' परन्तु वहां जल इन दो अक्षरों की संज्ञा लाने वा मगाने वाला नहीं देख सकता है किन्तु जिस पदार्थ का नाम जल है वही प्रत्यक्ष

---

१. सत्यार्थप्रकाश, पृ० ४६

होता है और जो शब्द से ज्ञान उत्पन्न होता है वह शब्द प्रमाण का विषय है। 'अव्यभिचारी' जैसे किसी ने रात्रि में खम्बे को देख के पुरुष का निश्चय कर लिया, जब दिन में उसको देखा तो रात्रि का पुरुष ज्ञान नष्ट होकर स्तम्भ ज्ञान रहा। ऐसे विनाशी ज्ञान का नाम व्यभिचारी है जो प्रत्यक्ष नहीं कहाता। 'व्यवसायात्मक' किसी ने दूर से नदी की बालू को देख के कहा कि "वहां वस्त्र सूख रहे हैं जल है या और कुछ है" वह "देवदत्त खड़ा है वा यज्ञदत्त" जब तक निश्चय न हो तब तक वह प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है किन्तु जो अव्यपदेश्य, अव्यभिचारी और निश्चयात्मक ज्ञान है उसी को प्रत्यक्ष कहते है।"[1]

प्रत्यक्ष ज्ञान की इस व्याख्या में स्वामी दयानन्द इन्द्रिय व मन के संयोग से आत्मा को ही वास्तविक ज्ञाता कहते है। केवल विषय और इन्द्रियों का सम्बन्ध ही विषय का ज्ञान नहीं दे सकता, मन का इन्द्रियों मे संयोग आवश्यक है। क्योंकि हम देखते हैं कि सुषुप्ति की अवस्था में मन का इन्द्रियों से सम्बन्ध टूट जाता है इसलिये किसी विषय का प्रत्यक्ष नहीं होता। जाग्रत में भी जब मन किसी एक विषय पर केन्द्रित होता है उस समय आंखों के सामने से गुजर जाने वाली वस्तु का भी प्रत्यक्ष नहीं होता। अतः प्रत्यक्ष के लिये इन्द्रियों का मन से संयोग होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त मन का आत्मा से सयोग भी आवश्यक है। आत्मा के बिना मन जड़ है फिर मन को ज्ञान कैसे हो सकता है? वास्तव में इन्द्रिय और मन के संयोग से आत्मा ही ज्ञाता है।

बाकी अन्य तीन विशेषतायें अव्यपदेशी, अव्यभिचारी व व्यवसायात्मिकता हैं। इनके अर्थों को स्वामी दयानन्द ने उपरोक्त उदाहरण में स्पष्ट कर दिया हैं और हम उसे दुबारा लिखने की आवश्यकता नहीं समझते।

निर्विकल्पक व सविकल्पक प्रत्यक्ष — इन्द्रियों द्वारा विषय के सम्पर्क से उसके सम्बन्ध में भिन्न २-गुणों की अनुभूतियां उत्पन होती हैं जैसे जल के प्रत्यक्ष में जल के स्पर्श से शीतलता, जिह्वा से रस, चक्षुओं से आकार व

१. दयानन्द ग्रन्थमाला, भाग १, पृ० १४१

तरलता आदि की पृथक-पृथक अनुभूतियां उत्पन्न होती हैं। अलग-अलग ये अनुभूतियें केवल शब्द, रूप, रस, स्पर्श व गन्धादि की सूचनामात्र हैं। इससे विषय का प्रत्यक्ष नहीं होता। ऐसी अवस्था में विद्वान इन्हें निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं। मन में जाकर जब यह सारी सूचनायें एकत्रित होती हैं वहां इनके संयोग-वियोग से बुद्धि, विषय का निश्चय करती है कि यह अमुक विषय है। इस ज्ञान को सविकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं। स्वामी दयानन्द ने प्रत्यक्ष का इतना सूक्ष्म विश्लेषण तो नहीं किया परन्तु निर्विकल्पक और सविकल्पक प्रत्यक्ष का संकेत उनके इस कथन में अवश्य मिलता है 'अब विचारना चाहिये कि इन्द्रियों और मन से गुणों का प्रत्यक्ष होता है गुणी का नहीं। जैसे चारों त्वचा आदि इन्द्रियों से स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध का ज्ञान होने से गुणी जो पृथिवी है उसका आत्म-युक्त मन से प्रत्यक्ष किया जाता है।"[1]

अनुमान— दूसरा प्रमाण अनुमान प्रमाण है।

"जो प्रत्यक्षपूर्वक अथवा जिसका कोई एक देश या सम्पूर्ण द्रव्य (वा) किसी स्थान वा काल में प्रत्यक्ष हुआ हो उसका दूर देश से महचरी (अर्थात् एक देश के प्रत्यक्ष होने से अदृष्ट अवयवी का ज्ञान होने को अनुमान कहते हैं जैसे पुत्र को देख के पिता, पर्वतादि में धूम को देख के अग्नि, जगत में सुख-दुख देख के पूर्वजन्म का ज्ञान होता है।"

वात्स्यायन की तरह स्वामी जी भी प्रत्यक्ष के बिना अनुमान को असभव मानते हैं। वे कहते हैं कि **'अनु अर्थात् प्रत्यक्षस्य पश्चान्मीयते जायते येन यदनुमानम्'** अर्थात् प्रत्यक्ष के पश्चात् उत्पन्न ज्ञान को अनुमान कहते है जैसे धूम के प्रत्यक्ष देखे बिना अदृश्य अग्नि का ज्ञान कभी नहीं हो सकता। किसी एक पदार्थ के किसी एक देश के प्रत्यक्ष से शेष का अनुमान साहचर्य से लगा लिया जाता है, जैसे धूम को देखकर अग्नि का अनुमान लगा लेते हैं। क्योंकि धूम और अग्नि में साहचर्य का नियम है। यह ज्ञात से अज्ञात का ज्ञान कराता है, जैसे

---

१. सत्यार्थप्रकाश, पृ० १७६

२. दयानन्द ग्रन्थमाला, भाग १ पृ० १४१–१४२

दुख, सुख चेतनादि लक्षणों को देखकर आत्मा का अनुमान होता है।

साधन और साध्य का परस्पर अविच्छेद्य सम्बन्ध ही व्याप्ति है। अनुमान व्याप्ति के बिना सम्भव नहीं। स्वामी दयानन्द सांख्य सूत्रों के आधार पर व्याप्ति की व्याख्या इस प्रकार करते हैं 'जो दोनों साध्य-साधन अर्थात् सिद्ध करने योग्य और जिससे सिद्ध किया जाय उन दोनों अथवा एक, साधनमात्र का निश्चित धर्म का सहचार है उसी को व्याप्ति कहते हैं जैसे धूम और अग्नि का सहचार है।"[1]

अनुमान तीन प्रकार का है—

"पूर्ववत्"—जैसे (कारण) बादलों को देखकर वर्षा (कार्य) का ज्ञान होता है,[2] वह पूर्ववत् अनुमान है।

'शेषवत्'—अर्थात् जहां कार्य को देख के कारण का ज्ञान हो, जैसे नदी के प्रवाह को बढ़ता देखकर ऊपर हुयी वर्षा का ज्ञान होता है।[3]

"सामान्यतोदृष्ट"—जो कोई किसी का कारण न हो परन्तु किसी प्रकार का साधर्म्य एक दूसरे के साथ हो, जैसे कोई भी बिना चले दूसरे स्थान को नहीं जा सकता वैसे ही दूसरों का भी स्थानान्तर में जाना बिना गमन के कभी नहीं हो सकता।"[4] नैयायिक सामान्यतोदृष्ट अनुमान के आधार पर ही शरीर में सुख, दुख, इच्छा, द्वेष इत्यादि को देखकर ही आत्मा के होने का अनुमान लगाते हैं।

उपमान—जो प्रसिद्ध प्रत्यक्ष साधर्म्य से साध्य अर्थात् सिद्ध करने योग्य ज्ञान की सिद्धि करने का साधन हो उसको उपमान कहते हैं "उपमीयते येन-तदुपमानम्" जैसे किसी ने कहा ·····जैसी यह गाय है वैसी ही गवय अर्थात् नील गाय होती है जंगल में जिस पशु को गाय के तुल्य देखा उसको निश्चय

१. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ६०
२. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ५०—५१
३. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ५१
४. वही, पृ० ५१

कर लिया कि इसी का नाम गवय है।"[1]

प्रायः तर्कशास्त्र के विद्वान उपमान प्रमाण की निम्न प्रकार से आलोचना किया करते हैं। वह कहते हैं कि किसी वस्तु को केवल उपमा मात्र से जानना तर्कशास्त्र में अत्यन्त विवादास्पद है क्योंकि यदि साध्य और साधन में पूर्ण साध्यर्मता होवे तो यह कहना, इसके समान हो गया कि देवदत्त देवदत्त के समान है। इससे किसी नवीन बात का पता नहीं चलता। यदि कुछ विधर्मता व अधिकांश में साम्यता हो तो भी यह आवश्यक नहीं कि अधिकांश में साम्यता से, साधन से साध्य का ज्ञान हो जाय क्योंकि भैंस और काली गाय में काफी साम्यता है। परन्तु इससे भैंस गाय नहीं हो सकती। और यदि अधिकांश वैध्यर्मयता कहें तो बिल्कुल ही ज्ञान नहीं हो सकता। वैशेषिक इसको अनुमान में गिनता हैं कि यह गवय है क्योंकि यह गाय के समान है और जो भी गाय के समान है वह गवय है। सांख्य इसे शब्द प्रमाण में ले लेता है। लेकिन हमारे विचार से उपमान न तो पूर्णरूप से अनुमान ही है और न शब्द प्रमाण और न दोनों मिलकर। इसमें (१) किसी ने कहा है कि गवय गाय के समान है, (२) जंगल में गवय का प्रत्यक्ष होता है, (३) पूर्वश्रुत, कि गवय गाय के समान की स्मृति है, (४) तथा जो यह देखता हूं इस प्रकार का पशु गाय के समान होने से गवय है, ये चार मुख्य अवयव हैं। यह अन्तिम वाक्य समानता का द्योतक है न कि कार्य-कारण के सहवर्य का। इससे यह अनुमान नहीं है। केवल किसी के द्वारा कहे जाने से भी गवय का निश्चय नहीं होता इससे यह शब्द प्रमाण नहीं और केवल गवय के प्रत्यक्ष से भी जबकि गाय से उसकी समानता का बोध नहीं है, गवय का निश्चय संभव नहीं। इससे यह प्रत्यक्ष, अनुमान व शब्द में से कोई सा भी नहीं है। उपमान की विशेषता मनोवैज्ञानिक साम्यता है, जिसे सूत्रकार ने प्रसिद्ध साधर्म्य से और स्वामी दयानन्द ने प्रत्यक्ष साधर्म्य कही है, अर्थात् ऐसा साधर्म्य जो गवय के देखने पर स्वतः ही गवय का निश्चय करा देता है।

---

१. वही पृ० ५७

शब्द प्रमाण — "जो आप्त अर्थात् पूर्ण विद्वान, धर्मात्मा, परोपकारप्रिय सत्यवादी, पुरुषार्थी, जितेन्द्रिय पुरुष जैसा अपने आत्मा में जानता हो, (और जो) सब मनुष्यों के कल्याणार्थ उपदेष्टा हो, अर्थात् जो जितने पृथिवि से लेकर परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों का ज्ञान प्राप्त होकर उपदेष्टा होता है। जो ऐसे पुरुष और पूर्ण आप्त परमेश्वर के उपदेश वेद हैं उन्हीं को शब्द प्रमाण जानो।"[1]

ज्ञान प्राप्त करने में मानव जाति के जीवन में शब्द प्रमाण का महत्वपूर्ण एवं विशिष्ट स्थान है। यदि हम अपने पूर्वजों के ज्ञान पर विश्वास न करते और हर नयी पीढ़ी सब कुछ नए सिरे से ज्ञान प्राप्त करती तो मानव जाति आज इस उन्नत ज्ञान की अवस्था तक नहीं पहुंचती। लेकिन पूर्वजों या मान्य पुरुषों द्वारा दिया हर ज्ञान भी सत्य नहीं होता यह व्यवहार से पता चलता है। कोपरनिकस के गणित सम्बन्धी नियमों में न्यूटन ने सुधार किया और न्यूटन के सिद्धान्तों में आइन्सटीन ने किया और अब सुना है कि नर्लेकर ने आइन्सटीन के सिद्धान्तों में भी फेर-बदल किया है। लेकिन फिर भी हमें विद्वानों के निष्कर्षों व कथनों पर तब तक तो विश्वास करना ही पड़ता है जब तक वे असिद्ध न हो जायं। स्वामी दयानन्द के अनुसार जिन पुरुषों के उपदेशों को सत्य माना जाय उनमें दो विशेषतायें अवश्य होनी चाहियें कि प्रथम वे विद्वान हों जिन्होंने सत्य का साक्षात् किया हो एवं दूसरे परोपकारी हों अर्थात् जिनमें स्वार्थबुद्धि किंचितमात्र न हो। ऐसे पुरुष ही आप्त कहलाते हैं। स्वार्थ बुद्धि से मुक्त पूर्ण विद्वान् असत्य क्यों बोलेगा। इस पर भी यदि उनके वचन वेदों से विपरीत हों तो वेदों के वचन मान्य हैं और यह समझना चाहिए कि इनको अभी पूर्ण ज्ञान नहीं है। परन्तु वेद को प्रमाण मानने पर एक सबसे बड़ी कठिनाई यह होती है कि वेद के मंत्रों के गूढ़ व रहस्यपूर्ण होने के कारण विभिन्न विद्वान् उनकी परस्पर विरोधी व्याख्या करते हैं फिर यह प्रश्न है कि कौन सी व्याख्या प्रमाण मानी जाय ? व्याख्या न किया हुआ वेद का मंत्र अपने आप में एक पहेली है। इस पर यह कहा जा सकता है कि जो व्याख्या बुद्धि–

१. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ५१–५२ :

संगत व सृष्टिक्रम के अनुकूल हो उसे मान लिया जाय। परन्तु कठिनाई तो यह है कि पदार्थ विद्या स्वयं अस्थिर है। वैज्ञानिक क्षेत्र में मान्यतायें बड़ी तेजी से बदल रही हैं। आज जिस वैज्ञानिक सिद्धान्त पर व्याख्या की जाय और वही कल बदल जाय तब क्या किया जाय। कहने का तात्पर्य यह है कि वेद को स्वतः प्रमाण मानने के लिये वेद के मन्त्रों की गवेषणापूर्ण व्याख्या करना आवश्यक है जिससे निरापद रूप से इन्हें स्वतः प्रमाण माना जा सके।

ऐतिह्य—किसी के जीवन चरित्र का नाम ऐतिह्य प्रमाण है।

अर्थापत्ति—अर्थात् किसी बात के कहने से उसके अर्थ रूप में कोई दूसरी बात सिद्ध हो "जैसे किसी ने किसी मे कहा कि बादल के होने से वर्षा और कारण के होने के कार्य उत्पन्न होता है इससे (इस कथन से) बिना कहे यह दूसरी बात सिद्ध होती है कि बिना बादल वर्षा और बिना कारण के कार्य कभी नहीं हो सकता।"[1]

सम्भव—जो सृष्टिक्रम के विरुद्ध है उन बातों का न होना जैसे माता-पिता के बिना सन्तानोत्पति का होना सर्वथा असम्भव है। तथा जो बात सृष्टि-क्रम के अनुकूल हो वही सम्भव है, जैसा माता-पिता के संयोग से पुत्र का होना।[2]

अभाव—'न भवन्ति यस्मिन् सोऽभावः' अर्थात् जिसका भाव नहीं उसका अभाव है जैसे किसी ने कहा कि हाथी ले आ वह वहां हाथी का अभाव देखकर जहां था वहां से ले आया।[3]

अन्त के चार प्रमाण विशेष महत्व के नहीं हैं। इनको आसानी से पूर्व चारों में गिना जा सकता है। स्वामी जी कहते हैं 'इनमें से जो शब्द में ऐतिह्य और अनुमान में अर्थापत्ति, सम्भव व अभाव की गणना करें तो चार प्रमाण रह जाते हैं।' न्यायकार भी अन्तिम चार प्रमाणों का इसी तरह पूर्व चारों में तिरोभाव कर देते हैं।

---

१. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ५२
२. वही ५२
३. वही, ५२

इन्द्रिय जन्य ज्ञान की सत्ता

इन्द्रियें संसार में ज्ञान-प्राप्ति के द्वार हैं। संसार का सारा ज्ञान सबसे पहले इन्हीं द्वारों से होकर अन्तःकरण में और वहाँ से जीवात्मा तक पहुंचता है। स्मृति, चिन्तन व मनन यह सब मानसिक क्रियायें बाद में होती हैं। अर्थात् इनका आधार भी प्रत्यक्ष ज्ञान है। स्वामी दयानन्द संसार को सत्य मानते हैं और इन्द्रियें संसार का ज्ञान प्राप्त करने में आत्मा के साधन हैं। श्रोत्र, चक्षु, रसना, नासिका एवं त्वचा इन पांचों ज्ञानेन्द्रियों से संसार के पांचों विषय शब्द, रूप, रस, गन्ध व स्पर्श का ज्ञान हो जाता है।[1] न्याय शास्त्र द्वारा संसार में शब्द, रूप, रस, गंध व स्पर्श आदि पाँच सूक्ष्म तत्वों और उनके कार्य पाँच स्थूल भूतों को स्वीकार करने का एक यह भी आधार स्वीकार किया गया है कि क्योंकि इन्द्रियां पाँच हैं[2] अर्थात् मनुष्य जो ईश्वर की सृष्टि में उच्चतम कृति है पाँच ज्ञानेन्द्रियों वाला है। उसके भोग और अपवर्ग के निमित्त संसार बना है तो ज्ञान के विषय भी पांच ही होने चाहियें, नहीं तो इनसे अतिरिक्त विषयों को वह किस प्रकार जानेगा।

स्वामी शंकराचार्य जी इन्द्रियजनित ज्ञान को मिथ्या ज्ञान मानते हैं क्योंकि इन्द्रियें जीवात्मा को सदैव मिथ्या की ओर ले जाती हैं। ब्रह्मसूत्रों पर लिखी चतुर्सूत्री में वह कहते हैं कि प्रत्यक्षादि सब प्रमाण व शास्त्र अविद्यावत् हैं।[3] इससे स्पष्ट है कि इनके मत में प्रत्यक्ष ज्ञान जो इन्द्रियों से उत्पन्त होता है अविद्यावत् है। सत्य तो यह है कि यही मान्यता शंकराचार्य जी के जगत्-भ्रम के सिद्धान्त से मेल भी खाती है। रामानुज यद्यपि विशिष्टाद्वैतवादी हैं परन्तु वे दृश्यमान् जगत् को सत्य मानते हैं तथा इन्द्रियजन्य ज्ञान को शंकराचार्य की तरह आवश्यक रूप से मिथ्या नहीं कहते। उनका कहना है कि जो

---

१. "जो श्रोत्र, त्वचा·····उसको प्रत्यक्ष कहते हैं"। सत्यार्थ प्रकाश, पृ० १७६।

२. 'इन्द्रियार्थ पंचत्वात्।' न्याय ३।१।६१

३ 'अविद्यावद् विषयानि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणिचेति।' वेदान्त पर शंकर भाष्य की चतुर्सूत्री से।

शंकराचार्य इन्द्रियजन्य ज्ञान को इस आधार पर मिथ्या मानें कि श्रुति वाक्यों से इसका विरोध है तो उनके स्वयं के अनुसार श्रुति व्यावहारिक जगत् में होने से अमान्य है।[1] कहने का तात्पर्य वह है रामानुजाचार्य शंकराचार्य से सहमत नहीं हैं।

इन्द्रियों को ज्ञान के साधन मानने पर हमारे सामने यह प्रश्न उठता है कि क्या यह मान्यता हमें लॉक, बर्कले व ह्यूम की तरह, प्रत्ययवाद (Idealism) की ओर नहीं ले जायेंगी ? क्योंकि लॉक की इसी मान्यता का बर्कले और ह्यूम के दर्शन में यही तार्किक परिणाम निकला है। हम यहां पर यह स्पष्ट करदें कि स्वामी दयानन्द केवल इन्द्रियजन्य अनुभूतियों को ही नहीं बल्कि इसके अतिरिक्त अन्य दो सिद्धान्तों को ज्ञान-प्रक्रिया में मुख्य मानते हैं। वे हैं एक तो आत्मा की ज्ञान-रूप शक्ति। दयानन्द कहते हैं कि जीवात्मा सत्यासत्य जो जानने की शक्ति रखता है तथा दूसरे पूर्वजन्म के संस्कार जो इस जन्म में प्राणियों की मानसिक रचना, वृत्ति समूह, रुचि व व्यवहार के प्रवाह को बनाते हैं। लॉक मन को जन्म के समय साफ स्लेट की तरह बताता है। जिस पर इस जन्म में प्राप्त ज्ञान अंकित होता रहता है। यदि लॉक के इस कथन को मान लिया जाय कि इन्द्रियों से जो कुछ भी प्राप्त होता है वह मन पर अंकित हो जाता है। तो यह अंकित चिन्ह ज्ञान कैसे हो जाते हैं तथा मिथ्या ज्ञान कैसे होता है वह यह नहीं बता सकेंगे। लेकिन दयानन्द के मत में यह स्पष्ट है कि आत्मा ज्ञानरूप है, वह सत्यासत्य को जानने वाला है परन्तु मन पर पड़े पूर्व संस्कारों के प्रभाव से मिथ्या उपलब्धि की ओर झुक जाता है।

अब यह स्पष्ट है कि दयानन्द के मत में इन्द्रियें बाह्य जगत् का ज्ञान कराने वाले ज्ञानाधिकरण हैं। परन्तु इन्द्रियें जो भी ज्ञान प्राप्त करती हैं वह केवल पदार्थों के गुण हैं जिनकी व्याख्या आत्मा से संयुक्त होकर मन करता है।

---

१. Sri Bhasya P. 55 as quoted by the writer of Indian Epistemology on Page 329-330 by Jwala Prasad, M. A., Ph. D.

मिथ्या ज्ञान (False Knowledge)

जो भी ज्ञान हमें इन्द्रियों से प्राप्त होता है वह सब ही सत्य नहीं होता। इन्द्रिय ज्ञान के अतिरिक्त बहुत सी मानसिक उपलब्धियां भी मिथ्या होती हैं जैसे विभ्रम व स्वप्न। बाद में हमें उसका संसार में बाध होता दिखायी पड़ता है इससे मिथ्या ज्ञान का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। कोई भी ज्ञान-उपलब्धि तभी तक सत्य है जब तक उसे असत्य सिद्ध नहीं कर दिया जाता। रज्जु में सर्प की भ्रान्ति होती है।[1] जब तक हम भ्रांति में होते हैं तब तक वह हमारे लिए सर्प ही है। लेकिन रज्जु का सत्य ज्ञान होने पर सर्प की भ्रांति समाप्त होने जाती है। स्वामी दयानन्द इस भ्रांति का कारण अविद्या अथवा अज्ञान बताते हैं जो इन्द्रिय और संस्कारों के दोषों के कारण उत्पन्न होता है।[2] विद्या तथा अविद्या की और भी स्पष्ट व्याख्या करते हुये दयानन्द कहते हैं कि 'जिससे पदार्थों का यथार्थ स्वरूप बोध होवे वह विद्या और जिसमे तत्व स्वरूप न जान पड़े, अन्य में अन्य बुद्धि होवे वह अविद्या कहलाती है।"[3] योग दर्शनकार महर्षि पातंजलि ने भी अविद्या की व्याख्या करते हुये कहा है कि अनित्य में नित्य, अशुचि में शुचि, दुख में सुख और अनात्मा में आत्मा की बुद्धि करना अविद्या है। यहां महर्षि पातंजलि का तात्पर्य भी वही है जो दयानन्द का है परन्तु वह दार्शनिक रूप में है।

अविद्या को मिथ्या ज्ञान या मिथ्या ज्ञान का कारण अविद्या कह देने से या इन्द्रिय या संस्कार के दोष से अज्ञान पैदा होना मात्र कहने से अविद्या क्या है यह प्रश्न नहीं सुलझता। क्योंकि अविद्या की इन सब व्याख्याओं से तो केवल इतना पता चलता है कि भ्रम या मिथ्या ज्ञान का कारण अविद्या है परंतु अविद्या क्या है इसके उत्तर में केवल यह कह देना कि मिथ्या ज्ञान अविद्या है अन्योन्याश्रय दोष उत्पन्न करना है। व्यास योग भाष्य में कहते हैं कि "किंतु विद्या के विपरीत

१. सत्यार्थ प्रकाश, भूमिका पृ० २

२. 'इन्द्रियदोषात्संस्कार दोषाच्चाविद्या'। बै० सू० ६. २. १०।

३. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २३६।

ज्ञान अविद्या है।'[1] वैशेषिक इसे दुष्ट ज्ञान कहता है।[2] सांख्य इसी अविद्या को अविवेक कहकर उससे बन्ध बताते है।[3] परन्तु अविद्या कैसे उत्पन्न होती है? तथा इसका स्वरूप क्या है? यह दो प्रश्न फिर भी अस्पष्ट रह जाते हैं। यह हमने माना कि रज्जु में सर्प की भ्रांति अविद्या से है परन्तु अविद्या किससे है? अविद्या जिससे सारा संसार भ्रमित है, स्वयं क्या है? यह एक रहस्य है और जो इस रहस्य को समझ ले वह इससे मुक्त हो जाता है। शायद इसीलिये श्री शंकराचार्य ने इसे अनिर्वचनीय कहकर इससे पीछा छुड़ाया। परन्तु यह होती क्यों है, आखिर जीवात्मा या ब्रह्म भ्रमित क्यों हो जाता है? यह प्रश्न शंकर-मत में भी बिना सुलझा रह गया है। सांख्यकार महर्षि कपिल ने इसे सुलझाने की चेष्टा की है। वे अविवेक को चित्त का धर्म बताते हैं जिससे प्रकृति संग होता है तथा प्रकृति के अन्य अविवेक प्रकृति संग होने से पैदा होते हैं।'[4] शंकर की तरह सांख्य भी कहता है कि अविवेक तत्व नहीं है। परन्तु जब सांख्य कहता है कि यह कथनमात्र अर्थात् चित्त की एक अवस्था मात्र है,[5] इस अंश में वह शंकर से मेल नहीं खाता। क्योंकि शंकर इसे अनादि, अनन्त और नैसर्गिक मानते हैं।[6] परन्तु समस्या अभी सुलझी नहीं क्योंकि यदि अविवेक चित्त का धर्म है तब धर्म-धर्मी के पृथक न होने से अविवेक सदैव उसमें रहेगा और क्योंकि चित्त पुरुष के साथ हैं इससे अविवेक भी उसी के साथ रहेगा। इससे सांख्य मत में मुक्ति का प्रसंग ही नहीं उठेगा।

इस समस्या पर स्वामी दयानन्द कहते हैं कि "आत्मा सत्यासत्य का जानने वाला है तथापि अपने प्रयोजन की सिद्धि, हठ दुराग्रह और अविद्यादि

---

१. 'किन्तु विद्याविपरीतं ज्ञानान्तरमविद्येति'। योग, व्यासभाष्य २–५,
२. 'तद् दुष्टज्ञानम्। वै०सू० ९–२–११
३. 'तद्योगोऽप्यविवेकान्न समानत्वम्'। सा० सू० १–५५
४. 'प्रधानाविवेकादन्याविवेकस्य तद्धाने हानम्।' सा० सू० १–५७
५. 'आङ्मात्रं न तु तत्त्वं चित्तस्थिते:'। सा० सू० १–५८
६. 'एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्या प्रत्ययरूप:।'
वे० सू० पर शंकर भाष्य की चतुर्सूत्री से।

दोषों से सत्य को छोड़ असत्य में झुक जाता है"[1] तथा जीव का स्वरूप अल्प होने से आवरण में आता।"[2] इन उपरोक्त वाक्यों में दो बातें मुख्य हैं एक तो यह है कि मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य का जानने वाला है अर्थात् आत्मा में सत्य और असत्य में विवेक करने की शक्ति है। परन्तु दूसरी ओर शरीर में आकर सांसारिक प्रयोजनों अर्थात् सुख की प्राप्ति के कारण असत्य की ओर झुक जाता है क्योंकि वह स्वरूप से अल्पज्ञ है। **अविद्या या अज्ञान जिससे मिथ्या उपलब्धि होती है जीव की अल्पज्ञता से उत्पन्न होती है।** कोई भी जीव न स्वभाव से मुक्त है न बद्ध।[3] दयानन्द कहते हैं कि जो जीवात्मा स्वभाव से बद्ध होता तो मुक्त न हो सकता था और जो मुक्त होता तो बन्ध न होता! जीव की अल्पज्ञता से स्वामी दयानन्द का का तात्पर्य है कि जीवात्मा ज्ञान धारण करने की शक्ति तो रखता है परन्तु परमात्मा की तरह सर्वज्ञ नहीं होता। सर्वज्ञ अर्थात् सब कुछ जानने वाला क्यों विषय वासनाओं के चक्र में आयेगा। यह तो जीव अपनी अल्पज्ञता से वासनाओं के चक्र में फंसकर अन्य में अन्य के दर्शन करता है यही अविद्या का स्रोत है। दयानन्द के मत में अविद्या कोई अनिर्वचनीय तत्व नहीं है जिसे सतासत् दोनों भी कहा जाय और नहीं भी कहा जाय।

भ्रान्ति उत्पन्न होने के कारण— मिथ्या उपलब्धि क्यों होती है? इस पर दयानन्द वैशेषिक के साथ सहमत हैं कि यह इन्द्रियदोष अथवा संस्कार दोष अथवा दोनों से होती है।[4] कुछ भ्रांतियां केवल इन्द्रिय दोष से होती हैं जैसे पीलिए का रोगी आंखें पीली होने के कारण सब ओर पीला ही पीला देखता है इसमें मानस संस्कारों के कारण भ्रांति नहीं होती। कुछ भ्रांति केवल मानसिक भ्रांति होती हैं जैसे निरालम्ब भ्रज (Hallucination)

---

१. सत्यार्थप्रकाश, भूमिका पृष्ट २
२. सत्यार्थप्रकाश, पृ० २३७
३. '(प्र०) बन्ध और मोक्ष स्वभाव से होता है या निमित्त से (उत्तर दया०) निमित्त से' सत्यार्थप्रकाश, पृ० २३७
४. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ५६

कुछ भ्रन्तियां इन्द्रिय और मानसिक दोनों दोषों के कारण हो सकती हैं जैसे कि दोषपूर्ण चक्षु सीपी को देखती है तथा मन में स्थित रजत के संस्कार की सहायता से सीपी में रजत की भ्रांति होती है। जयन्त भट्ट भ्रांतियों को इन्द्रिय-भ्रान्ति व मानस-भ्रांति इन दो भागों में बांटते हैं। इनमें पहली इन्द्रिय-दोष से उत्पन्न होती है तथा सालम्बन होती है। दूसरी निरालम्ब होती है। इनमें पहली भ्रम है दूसरी निरालम्ब भ्रम (Hallucination) [1] श्रीधर सालम्ब-भ्रम को निर्विकल्पक और सविकल्पक दो भागों में बाँटते हैं। इनमें निर्विकल्पक भ्रम विशुद्ध इन्द्रिय-दोष से उत्पन्न होते है जैसे पीलिए का रोगी सबको पीला देखता है तथा दूसरे सविकल्पक भ्रम वे हैं जिनमें इन्द्रिय व संस्कार दोनों ही दोष मिश्रित हैं जैसे रस्सी का पूर्ण भान न करने वाली दोषयुक्त चक्षु सर्प के मन में स्थित संस्कारों से मिलकर रज्जु में सर्प की भ्रांति उत्पन्न करती हैं।[2] तीसरे प्रकार की भ्रांतियें निरालम्ब भ्रम हैं जिनका बाहर कोई आधार नहीं होता। इस विषय में स्वामी दनानन्द का इन विद्वानों से कोई विरोध नहीं दिखाई देता।

जयन्त भट्ट कहते हैं कि भ्रान्ति में अनेक बाह्य एवं विषय सम्बन्धी दोष भी होते हैं, जैसे चाक्षुष प्रत्यक्ष में प्रकाश के कम अथवा अधिक होने से भ्रान्ति हो जाती है। इसी प्रकार विषय-दोष में सादृश्य, चलत्व, दूरत्व इत्यादि के होने से भ्रांति हो जाती है, जैसे रज्जु में सादृश्य से सर्प की भ्रान्ति होती है। इसी प्रकार अलात चक्र में भ्रान्ति तीव्र गति के कारण तथा दूरत्व के कारण चन्द्रमा का आकार में लघु दीखना इत्यादि होता है। यद्यपि स्वामी दयानन्द मिथ्या ज्ञान का इतना सूक्ष्म विवेचन नहीं करते परन्तु इनसे उनका कोई विरोध भी प्रतीत नहीं होता। उनका मुख्य विरोध तो नवीन वेदान्तियों की अनिर्वचनीय ख्याति से है।

शंकर वेदान्तियों का कथन है भ्रम के पदार्थ न सत् हैं न असत् और न सदासत् वरन् अनिर्वचनीय हैं। इसी से यह अनिर्वचनीय ख्याति कहलाती है।

---

१. Indian Psychology. Perception Vol.I.P.274: J.N. Sinha

२. Indian Psychology, Perception, P. 275: J. N. Sinha.

इस मत के अनुसार जो भी पदार्थ ज्ञान से प्रकाशित होते हैं वही ज्ञान का विषय हैं। सीपी में रजत की भ्रांति में रजत विषय है इसी से रजत का भान होता है। वेदान्तियों का कहना है कि यदि नैयायिक भ्रम की अवस्था में अन्य का ज्ञान मानते हैं तो सीपी में रजत का ही क्यों भान होता है किसी अन्य पदार्थका क्यों नहीं हो जाता। भ्रम के पदार्थ को असत कहने में उनका तर्क है कि सीपी में रजत सत् इसलिए तहीं है कि यदि यह सत् होती तो बाद में इसका बाध नहीं होना चाहिए था और असत् इसलिए नहीं कि असत् होकर यह रजत का ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकती। और सदासत् इसलिए नहीं कि उस दशा में उपरोक्त दोनों कठिनाइयां उत्पन्न होंगी। इसलिए सीपी में रजत का मिथ्या ज्ञान अनिर्वचनीय है।[1] शकर अध्यास की व्याख्या "जो नहीं है उसकी इसमें कल्पना करना"[2], के रूप में करते हैं, अर्थात वस्तु में अवस्तु को प्रतीति करना जैसे जो सत्पदार्थ वस्तु है में अवस्तु सर्प जो असत्पदार्थ है, कि बुद्धि उत्पन्न रज्जु करना अध्यास है।

स्वामी दयानन्द अनिर्वचनीय ख्याति के पोषक वेदान्तियों के मत में एक भूल की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। वे वेदान्तियों से कहते हैं कि 'तुम (शकरवादी) रज्जु को वस्तु और सर्प को अवस्तु मानकर इस भ्रम जाल में पड़ें क्या सर्प वस्तु नहीं है? जो कहो कि रज्जु में नहीं तो देशान्तर में है और उसका संस्कार मात्र हृदय में है फिर वह सर्प भी अवस्तु नहीं रहा।" इससे स्वामी जी का अभिप्राय यह है कि रज्जु में सर्प की भ्रान्ति के समय रज्जु के स्पष्ट न दीखने से तथा रज्जु व सर्प की समानता का ही भान होने से पूर्व दृष्ट सर्प के चित्त में स्थित संस्कारों की स्मृति हो जाती है, इससे रज्जु में सर्प की भ्रान्ति हो जाती है, जो अन्य में अन्य की प्रतीति है, वस्तु में अवस्तु की प्रतीति नहीं। क्योंकि पूर्वदृष्ट सर्प अवस्तु नहीं वस्तु है। यही नैयायिकों की अन्यथा ख्याति है। स्वामी जी अन्यथा ख्यातिको मानने में न्यायमत से सहमत हैं।

---

१. Indian Philosophy. V. 2, P. 133, by Dr. S. Radhakrishnan.

२. 'अध्यासो नामातस्मिंस्तद्बुद्धि'। वे० सूत्र पर शंकर भाष्य की भूमिका से।

वेदान्तियों की अनिर्वचनीय ख्याति का श्री रामानुज अनेक प्रकार से खण्डन कर अपनी सत्-ख्याति की इस प्रकार स्थापना करते हैं। सीपी में रजत के भ्रम में रजत सत् पदार्थ है क्योंकि असत् पदार्थ की उपलब्धि नितान्त असम्भव है। (यहां तक दयानन्द और रामानुज में भेद नहीं है।) परन्तु रामानुज आगे कहते हैं कि सीपी और रजत की समानता से मिथ्या ज्ञान नहीं होता क्योंकि इससे केवल चित्त पर पड़े रजत के संस्कार ही जाग्रत हो सकते हैं जिसे स्मृति कहते हैं, इससे यहां पर रजत का प्रत्यक्ष नहीं होता। उनका आगे कहना है कि रजत में अग्नितत्व की प्रधानता है और रजत कुछ अंशों में सीपी में रहती है, जिसमें (सीपी में) पृथिवी तत्व की प्रधानता है। और फिर यह नियम भी है कि कोई पदार्थ दूसरे के समान तभी होता है जबकि पहले में दूसरा कुछ अंशों के रहता है। इससे सीपी में रजत कुच अंशों में रहता है। तभी इनको आपस में समानता दिखायी पड़ती है। इससे हमें सीपी में अवस्थित इन्हीं रजत के अंशों के कारण रजत का भान होता है। इस पर प्रश्न होता है कि यदि वास्तव में ऐसा है तब फिर इसे सीपी में रजत का मिथ्या ज्ञान क्यों कहते है जबकि हमें सीपी स्थित वास्तविक रजत का भान होता है। इसके उत्तर में रामानुज कहते हैं कि सीपी में रजत इतने कम अशों में होता है कि वह रजत् का व्यवहार नहीं कर सकती।[1] अतः हम इसे सीपी में रजत की भ्रान्ति कहते है।

प्रतीत यह होता है कि रामानुज शंकर की अनिर्वचनीय ख्याति, वस्तु में अवस्तु के आरोपण के खण्डन की धुन में रजत को सीपी में सिद्ध कर उसे सीपी के समान वस्तु सिद्ध करना चाहते हैं। परन्तु यह व्यवहार और तथ्य दोनों के विपरीत है। दयानन्द के अनिर्वचनीय ख्यातिवाद के खण्डन में यह दोष नहीं है। वे रजत को सीपी में वस्तु रूप में सत् नहीं मानते बल्कि रजत पूर्व दृष्ट जौहरी की दुकान में सत् है और उसका संस्कार चित्त में संस्काररूप में सत् है। दूसरी तरफ वातावरण के प्रभाव से सीपी में रजत के समान

1. Indian Psychology, Perception V. 1 P. 295 by J. N. Sinha.

चमक देखने से संस्कार के रजत का स्मरण हो आता है। इससे सीपी रजतवत् दिखायी पड़ती है। इसके उत्तर में यदि यह कहा जाय कि संस्कारों के स्मरण से तो स्मृति ही हो सकती है रजत का प्रत्यक्ष नहीं। तो उत्तर है कि स्वप्न में भी तो संस्कार साकार वस्तुवत् दिखाई पड़ते हैं तो इसमें क्या दोष है? लेकिन इससे अद्वैतवाद की सिद्धि नहीं होती क्योंकि दयानन्द किसी भी भ्रम या स्वप्न के लिए संस्कारों की पस्थिति को आवश्यक कहते हैं जोकि केवल जाग्रत में ही हो सकती है। इससे हम यह देखते हैं कि दयानन्द शंकर व रामानुज के मतों में आयी भूल को सुधार कर, अन्य में अन्य की प्रतीती मानकर न्याय की अन्यथा-ख्याति को ही पुनः स्थापित करते हैं।

सत्य-ज्ञान का स्वरूप

स्वामी दयानन्द ज्ञान की परिभाषा में कहते हैं कि 'यथार्थं दर्शनं ज्ञानमिति' अर्थात् यथार्थ दर्शन ही ज्ञान है। स्वामी शंकर ने सत्य ज्ञान की परिभाषा में कहा है कि जो किसी अन्य ज्ञान द्वारा बाधित न हो वह ज्ञान सत्य है। आचार्य शंकर की सत्य-ज्ञान की इस व्याख्या से स्वामी दयानन्द का कोई विरोध नहीं है क्योंकि पदार्थ का यथार्थ दर्शन वास्तव में उसका अपने स्वभाव का ज्ञान है। रज्जु को रज्जु सीपी को सीपी एवं मृगतृष्णिका के जल को मृगतृष्णिका जानना ही यथार्थ है। लेकिन शंकराचार्य समस्त जगत् को ही एक महान् भ्रम बताते हैं जिसका उनके अनुसार परमार्थ में बाध हो जाता है, जैसे रज्जु का भान होने पर सर्प का भ्रम बाधित हो जाता है। परन्तु दयानन्द की सत्य-ज्ञान की यह व्याख्या किसी सत्ता विशेष से सम्बन्धित नहीं है वरन् हर वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानना सत्य ज्ञान है जगत् के पदार्थ हैं। और इनके वास्तविक स्वरूप को जानना ज्ञान है।

स्वामी दयानन्द का यथार्थ दर्शन से क्या तात्पर्य है इसकी वह इस प्रकार व्याख्या करते हैं—"जिससे पदार्थों का यथार्थ स्वरूप बोध होवे वह विद्या और

जिससे तत्वस्वरूप न जान पड़े अन्य में अन्य की बुद्धि होवे वह अविद्या है[1]।" इन्द्रियों से प्राप्त होने वाला सारा ही ज्ञान सत्य नहीं होता यह हम पूर्व प्रकरण में देख चुके हैं। परन्तु साथ ही यह भी तथ्य है कि मिथ्या उपलब्धि में इन्द्रियों के अलावा और भी अनेक कारण हैं। इससे यह पता चलता है कि इन्द्रियें भी सत्य-ज्ञान को प्राप्त कर सकती हैं परन्तु उनकी सीमा गुणों तक सीमित है। इससे इन्द्रियों का कभी द्रव्य से सीधा सम्बन्ध नहीं होता। इससे द्रव्य अपनी यथार्थता को हमसे बराबर छिपाये रहता है। परन्तु गुण संसर्ग में इन्द्रियों की उपलब्धि यथार्थ ही है। इससे तत्व के स्वरूप के जानने में इन्द्रियें अंशतः सफल होती हैं पूर्णतया नहीं। जब स्वामी दयानन्द पदार्थों के यथार्थ स्वरूप के बोध को विद्या कहते हैं तब उनका तात्पर्य है कि कोई भी उपलब्धि चाहे वह इन्द्रियों से हो या बुद्धि से उस पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को जो वह यथार्थ में है जानने वाली होनी चाहिए। इससे इन्द्रियें जहाँ तक उनकी पहुंच है, उस तक यदि तत्व का यथार्थ बोध कराती हैं तब यह इन्द्रियजन्य ज्ञान भी उस अंश तक उस तत्व का सत्य ज्ञान हो सकता हैं। यहां शंकराचार्य और दयानन्द में अन्तर है। शंकराचार्य जगत् को ही भ्रम मानते हैं, इससे व्यावहारिक स्तर की प्रत्येक उपलब्धि भ्रमपूर्ण होने से मिथ्या ही होगी, क्योंकि उसका परमार्थ में बाध होना पाया जाता है। इन्द्रियों के क्षेत्र में साधारण प्रत्यक्ष में गुणों के आधार पर द्रव्य का अनुमान किया जाता है, परन्तु सधी हुई योग बुद्धि पदार्थों के ज्ञान को तथा उनके वास्तविक स्वरूप को जानने में समर्थ होती है। साधारण बुद्धि के सम्मुख आने वाला ज्ञान बाहरी आवरणमात्र है जिसे सधी हुई बुद्धि भेदकर तत्व के स्वरूप तक पहुंच जाती है, उदाहरणार्थ स्वर्ण का टुकड़ा साधारण बुद्धि के लिए स्वर्ण है परन्तु वैज्ञानिक बुद्धि के लिए स्वर्ण के परमाणुओं का संघात है, जिनका विशिष्ट स्वरूप है। परन्तु अति उच्च वैज्ञानिक

---

१. सत्यार्थप्रकाश, पृ० २३६

के लिये ये स्वर्ण के परमाणु एलेक्ट्रोन, प्रोटोन व न्यूट्रोन की निश्चित संख्या वाले है, जिनमें परिवर्तन करने पर स्वर्ण के परमाणुओं को किसी अन्य तत्व के परमाणुओं में बदला जा सकता है। निःसन्देह वैज्ञानिक बुद्धि अति तीक्ष्ण है, परन्तु वह साधारण बुद्धि जो उसे स्वर्ण का टुकड़ा मानती है वह भी उस अंश तक सही है। संसार का ज्ञान रज्जु में सर्पवत् नहीं है। इस प्रकार ब्रह्माण्ड और इससे परे जीव, ईश्वर पर्यन्त समस्त तत्वों के सही-सही स्वरूप को जानना कि वास्तव में वह क्या है, सत्य ज्ञान की अन्तिम सीमा है। जिसने सत्य ज्ञान की इस अवस्था को प्राप्त कर लिया है उस व्यक्ति के बारे में उपनिषदें कहती हैं कि उसके सारे संशय नष्ट हो जाते।[1] इससे स्पष्ट है कि तात्विक दृष्टि रखने वाला व्यक्ति पदार्थों के विषय में संशयरहित हो जाता है क्योंकि उसे उनका तात्विक बोध हो जाता है।

अविद्या की व्याख्या में दयानन्द पातंजलि से सहमत है कि अनित्य में नित्य, अशुचि में शुचि, दुख म सुख और अनात्मा में आत्मा का ज्ञान कराने वाली अविद्या ही है। तब इससे स्वयं ही यह सिद्ध होता है कि अशुचि को अशुचि, दुख को दुख, अनित्य को अनित्य तथा अनात्मा को अनात्मा ही जानने वाला विद्या को जानता है। अर्थात् पदार्थों का यथावत् मानना ही सत्य ज्ञान है।[2] और इसे हम समस्त पदार्थों के विषय में भी लागू कर सकते हैं। इसी को वैशेषिक दुष्ट और अदुष्ट ज्ञान[3], सांख्य विवेक और अविवेक के रूप में कहते हैं। दयानन्द की इस व्याख्या में आचार्य शंकर का बाध न होने का सिद्धान्त तो आ ही जाता है क्योंकि यथार्थ का बाध कभी नहीं होता परन्तु साथ ही मिथ्या

---

१. मु उ०, २–२–८

२. वेत्ति यथावतत्त्व पदार्थ स्वरूपं यया सा विद्या यया तत्त्व स्वरुपं न जानाति भ्रमावन्यस्मिन्नन्यन्निश्चिनोति यया साऽविद्या।" सत्यार्थप्रकाश, पृ० २३६

३. वैशे० सू०, ९–२–११

को मिथ्या मानना भी आ जाता है। मिथ्या ज्ञान का बाद के ज्ञान से बाध हो जाता है इससे उसकी असत्ता की सिद्धि नहीं होती वरन् सत्ता की सिद्धि होती है। इससे हमें उसको भी जानना चाहिए कि वास्तव में यह क्या है और क्यों पैदा होता है ? इसी से दयानन्द कहते हैं कि "जो मनुष्य विद्या और अविद्या के स्वरूप को साथ-साथ जानता है वह अविद्या अर्थात् कर्मोपासना से मृत्यु को तर के विद्या अर्थात् यथार्थ ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है।[1]

---

१. यजुर्वेद, ४०–१४ पर दयानन्द. स० प्रकाश. पृ० २३६

८

मनोविज्ञान
(PSYCHOLOGY)

दयानन्द के मनोवैज्ञानिक विचारों का आधार

भारतीय मनोविज्ञान में मन का बड़ा महत्व है। मन द्वारा ही आत्मा का शरीर से सम्बन्ध होता है। यही मन दर्पण के समान इन्द्रियों द्वारा प्राप्त अनुभूतियों को ज्ञान में परिवर्तित करता है। मन की साधना के द्वारा योगी पुरुष अध्यात्म-ज्ञान को प्राप्त करते हैं।

यजुर्वेद के चौंतीसवें अध्याय के शिवसंकल्प सूक्त में जिसका देवता मन है, मन की शक्ति व इसके कार्यों का विवरण पाया जाता है। स्वामी दयानन्द यजुर्वेद के इस सूक्त तथा ऋग्वेद व अथर्ववेद में प्राप्त उच्च कोटि के मन सम्बन्धी सूत्रों के आधार पर ही अपनी मन एवं मनोविज्ञान सम्बन्धी विचारधारा का सृजन करते हैं। उपनिषदों में, मन व मनस शक्ति तथा मन के कार्यों का वर्णन स्थान-स्थान पर पाया जाता है। पातंजलि अपने योग दर्शन में मन के स्थान पर चित्त शब्द का प्रयोग करते हैं तथा महर्षि कपिल ने बुद्धि शब्द को ही मन के स्थान पर प्रयुक्त किया है। पातंजलि ने अपने योग-सूत्रों में उपनिषदों में यत्र-तत्र बिखरे हुये मनोवैज्ञानिक तत्त्वों को अपने योग दर्शन में वैज्ञानिक रूप में दिया है। पातंजलि के, मन के स्थान पर चित्त के प्रयोग से उनका अन्य वैदिक शास्त्रों से कोई विरोध नहीं है।

स्वामी दयानन्द वेद, उपनिषद् व षड्-शास्त्रों में प्रतिपादित मनोविज्ञान के आधार पर ही अपने मनोविज्ञान का प्रतिपादन करते हैं। महर्षि पातंजलि के योगदर्शन में जिस गम्भीर मनोविज्ञान का विकास हुआ है उसे वैदिक मतों के साथ-साथ अवैदिक सम्प्रदाय भी अपने मार्ग-दर्शक के रूप में स्वीकार करते हैं। फिर स्वामी जी तो सत्यान्वेष्टा हैं, इससे वह पातंजलि

को क्यों न स्वीकार करते। योगसूत्रों पर अन्य शास्त्रों की तरह अनेक भाष्य लिखे गये हैं परन्तु दयानन्द इसमें व्यास भाष्य को ही प्रामाणिक मानते हैं। यही नहीं वरन् कहीं-कहीं पर तो वह व्यास भाष्य में भी संशोधन करते हुये दिखायी पड़ते हैं।

दयानन्द की मनोवैज्ञानिक मौलिकता उनके द्वारा प्रतिपादित मनोविज्ञान के वैदिक आधार में निहित है। मन क्या है? तथा मन का शरीर से क्या सम्बन्ध है? इसका हमारे जीवन में क्या महत्व है? इत्यादि प्रश्नों के रूप में स्वामी जी हमारे सम्मुख यजुर्वेद के शिव-संकल्प-सूक्त के छः मंत्रों को प्रस्तुत करते हैं। इन मंत्रों का अर्थ इस प्रकार है—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवन्तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकन्तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु ॥१॥
येनकर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु ॥२॥
यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु ॥३॥
येनेदं भूते भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥४॥
यस्मिन्नृचः साम यजुंषि यस्मिन्प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥५॥
सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनऽइव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु ॥६॥

(१) यह जो मेरा मन जाग्रत अवस्था में दूर-दूर जाता है, तथा दिव्यगुण युक्त रहता है, वही सुषुप्ति को प्राप्त होता है तथा स्वप्न में दूर-दूर जाने का व्यवहार करता है, वह सब ज्योतिओं की ज्योतिरूपी मेरा मन सत्य संकल्पों वाला हो।

(२) जिसके द्वारा विद्वान् मनीषी लोग शुभ कर्मों को करते हैं जो अपूर्व सामर्थ्ययुक्त, पूजनीय व सब प्रजाओं के भीतर रहने वाला है वह मेरा मन सत्य संकल्पों वाला हो।

(३) जो उत्कृष्ट ज्ञान और दूसरों को चिताने वाली निश्चयात्मक वृत्ति

है और जो प्राणियों में प्रकाशयुक्त व नाशरहित है, जिसके बिना कोई कुछ नहीं कर सकता, वह मेरा मन सत्य संकल्पों वाला हो।

(४) जिसके द्वारा योगी पुरुष वर्तमान, भूत व भविष्य को जानते, जो नाशरहित जीव को परमात्मा से मिलाकर त्रिकालज्ञ करता है जिसमें ज्ञान और क्रिया है तथा जो पांच ज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि और आत्मायुक्त रहता है, वह मेरा मन सत्य संकल्पों वाला होवे।

(५) जिस प्रकार रथ के मध्य धुरे में आरे लगे रहते हैं वैसे ही ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद जिसमें प्रतिष्ठित हैं तथा जिसमें प्राणियों का सब पदार्थ सम्बन्धी ज्ञान सूत में मणियों के समान जिसमें संयुक्त है वह मेरा मन कल्याणकारी हो।

(६) रस्सियों से सारथि द्वारा जिस प्रकार घोड़े नियंत्रित किये जाते हैं, उसी प्रकार यह सब प्राणियों को अपने अधिकार में इधर-उधर घुमाता है, जो हृदय में प्रतिष्ठित गतिमान् और अत्यन्त वेग वाला है, वह मेरा मन शुभ गुणों वाला हो।

मन उसके कार्य व उसमें छिपी शक्तियों का इससे सूक्ष्म व सुन्दर वर्णन सारे लौकिक व अलौकिक साहित्य में कहीं नहीं मिलता। इसमें कहा है कि मन प्राणियों के शरीरों में हृदय में रहता है इसका मुख्य कार्य शरीर का आत्मा से सम्बन्ध कराना है। मन में ज्ञान धारण करने की बड़ी अद्भुत शक्ति है। पांचों ज्ञानेन्द्रियें, पांचों कर्मेन्द्रियें, पांचों प्राण व बुद्धि इसी के नियंत्रण में कार्य करते हैं। मन जाग्रत, स्वप्न व, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में बराबर विद्यमान रहता है। योग द्वारा संयमित व नियंत्रित मन तीनों कालों का ज्ञान धारण करने की शक्ति प्राप्त कर लेता है। योग द्वारा मन में इससे भी परे सूक्ष्म तत्त्वों व पदार्थों का ज्ञान करने की शक्ति आ जाती है। शुद्ध मन में परमात्मा का वेदरूपी ज्ञान स्वतः प्रवाहित होता है। यजुर्वेद के इन मन्त्रों में वैदिक मनोविज्ञान की सारी मान्यतायें व निष्कर्ष बीजरूप में मिल जाते हैं। उपनिषदों के ऋषियों ने इसी वैदिक धारणा का विस्तार अपने ग्रन्थों में अनुभव के आधार पर किया है।

इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में भी मन को साधने तथा परमात्मा में स्थिर करने के आदेशात्मक मन्त्र मिलते हैं। ऋग्वेद कहता है कि "अपने मन

को परमात्मा में स्थिर करो "[1] अर्थात् ऋग्वेद के अनुसार मन परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। और भी इस प्रकार के अनेक मन्त्र वेदों में पाये जाते हैं जिनमें से कुछ दयानन्द जी ने अपनी ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका में दिये भी हैं।

शिव-संकल्प-सूक्त में मन की सत्ता उसके कार्य व शक्ति का निर्देशात्मक विवरण है तथापि मनोविज्ञान की मूलभूत धारणामें व इसके अध्ययन से मानव जाति को प्राप्त होने वाले लाभों का स्पष्ट व्याख्यान भी इसमें मिलता है और साथ ही यह भी कहा है कि मन के बिना प्राणियों में कोई भी व्यवहार संभव नहीं है। इससे वैदिक ऋषियों के हृदय में इस मनरूपी अद्भुद शक्ति को जानने की जिज्ञासा पैदा होना स्वाभाविक ही था। लेकिन साथ ही हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि वेदों में मन शब्द का उस समस्त शरीरस्थ उपकरण के लिए प्रयोग हुआ है जिसको बाद के दर्शनकारों ने अन्तःकरण कहा है।

अन्तःकरण चतुष्टय—पूर्ववर्ती दार्शनिकों व भाष्यकारों की तरह ही स्वामी दयानन्द ने भी कार्य की दृष्टि से अन्तःकरण के चार विभाग मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार किए हैं। स्वामी दयानन्द मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार को क्रमशः संकल्प-विकल्प, निश्चय, स्मरण और अभिमान-गुणों वाला कहते हैं।[2] **मन का कार्य संकल्प-विकल्प करना है।** इसका शरीर में मुख्य कार्य पाँचों ज्ञानेन्द्रियों द्वारा सूचना प्राप्त करना तथा कर्मेन्द्रियों को कार्य करने के लिये आदेश देना है। इसी रूप में सांख्यशास्त्र ने भी इसे माना है।[3] आधुनिक मनोविज्ञान में वाटसन के व्यवहारवाद में उत्तेजना-प्रतिक्रिया (Stimulus & Response) को ही प्राणी का पूर्ण मनोविज्ञान मान लिया है। उन्होंने इस बात के जानने की चेष्टा नहीं की कि मस्तिष्क में होने वाले

---

१. 'युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः। ऋ० ४४.२४.१.

२. अन्तःकरण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार से संकल्प-विकल्प, निश्चय, स्मरण और अभिमान का करने वाला दण्ड और मान्य का भागी होता है। (सत्यार्थप्रकाश पृ० २३८)।

३. उभयात्मकं च मनः। सांख्य सूत्र ५—८१—१।

संकल्प-विकल्पों का कर्त्ता कौन है ? हम देखते हैं कि प्रत्यक्ष की निर्विकल्पक अवस्था में मिलने वाली अनुभूतियों से, विषय के सम्बन्ध में कुछ भी पता नहीं चल सकता। और यदि कुछ पता चलता है तो केवल इतना कि ये कुछ अनुभूतियें हैं, परन्तु किस वस्तु की ये कुछ नहीं। ये अनुभूतियें जब मन में आती हैं, मन इनको संयुक्त करता है और तब यह ज्ञान होता है कि यह पदार्थ अमुक वस्तु है। वही प्रत्यक्ष की सविकल्पक अवस्था है। यहां पर ज्ञान क्रिया में ज्ञाता को केवल मात्र अनुभूतियों का ही ज्ञान नहीं वरन् ज्ञाता का तत्सम्बन्धी मानसिक निर्णय भी इसमें सहायक है। यह निर्णय बिना चेतन ज्ञाता के सम्भव नहीं हो सकता। क्योंकि निर्णय में 'यह' नहीं 'वह' और क्रिया पक्ष में एक कार्य के बदले में दूसरा कार्य होता है। स्वामी शंकराचार्य चेतन प्राणी के तीन गुण बताते हैं कि वह किसी कार्य को करे, नाकरे या उल्टा करने लगे। इच्छानुसार किसी कार्य की करने के लिए शक्तियुक्त समझना यह सिद्ध करना है कि प्राणियों के व्यवहार वाटसन के उद्दीपना-प्रतिक्रिया ही नहीं बल्कि संकल्प-विकल्प धारण करने वाली शक्ति से किए गए सजीव निर्णय हैं। और यह मन ही है जो आत्मा की चेतन शक्ति से शरीर के व्यापार करता है। अन्तःकरण का दूसरा भेद बुद्धि है। बुद्धि निश्चयात्मक ज्ञान धारण करने वाली होती है। इसमें द्विविधा नहीं होती। अन्तःकरण जब स्मरण करता है तब वह चित्त होता है। मन द्वारा की हुई समस्त क्रियायें संस्काररूप होकर अन्तःकरण में चली जाती हैं जहां से चित्त उन्हें स्मृतिरूप में पुनः प्राप्त करता है। वाटसन स्मृति को विशुद्ध Sensory-Motor कहते हैं। परन्तु वह यह नहीं बताते कि विभिन्न अनुभूतियें किस प्रकार और कहां एकत्रित होती हैं तथा समय पड़ने पर कैसे पुनः सामने आ जाती हैं। इसके अतिरिक्त हम यह भी देखते हैं कि शान्त बैठे हुए बिना किसी बाह्य उत्तेजना अथवा आन्तरिक प्रेरणा (Stimulus) के हमें ऐसी स्मृति हो जाती हैं जिनका वर्तमान से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इस तथ्य को वाटसन Sensory-Motor आधार पर नहीं समझा सकते। दयानन्द के अनुसार जैसा कि अन्य वैदिक दार्शनिक भी मानते हैं स्मृतियें अन्तःकरण में स्थित चित्त-वृत्तियें हैं। अन्तःकरण का चौथा कार्य अहंकार है। स्वयं को जानना तथा अन्य पदार्थों से अपने को पृथक सत्ता समझना अहंकार का कार्य है।

मैं अपने क्रिया-कलापों, भावनाओं, संवेगों, अनुभूतियों से परिचित तो हूं ही, परन्तु साथ ही अपने को इनसे पृथक ज्ञातारूप सत्ता भी मानता हूँ। देकर्त ने इसे ही "मैं चिन्तन करता हूँ इसलिये मैं हूं" (I think therefore I am) के प्रसिद्ध मुहावरे में कहा है। परन्तु दयानन्द इसे मैं हूं इसलिये मैं चिन्तन करता हूँ" (I am therefore I think) इस रूप में मानना अधिक पसन्द करेंगे। मैं हूँ कि भावना ही अहंकार है।

अन्तःकरण चतुष्ट्य के विवरण से दयानन्द का तात्पर्य यह नहीं है कि मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार चारों तत्त्व अलग-अलग हैं और इनका संघात अन्तःकरण है। बल्कि ये एक ही अन्तःकरण की चार भिन्न-भिन्न कार्य करने की शक्तियां हैं। इस प्रकार दयानन्द के मनोविज्ञान के अन्तर्गत ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों के व्यापार (Sensory-Motor) स्मृति, निश्चय (Judgment) व अभिमान वृत्ति मन में रहने वाले संस्कार तथा मन में उठने वाली आवेगात्मक वृत्तियें इत्यादि सब ही आ जाती हैं। इसके साथ ही मानसिक वृत्तियों का जीवन के शुभ के लिए संयमन भी आ जाता है।

सूक्ष्म शरीर

दीख पड़ने वाले स्थूल शरीर के अन्तर में, और भी तीन शरीर हैं, वैदिक दर्शन में यह विचार उपनिषदों में भी पाया जाता है। इसी औपनिषदिक दर्शन को स्वामी दयानन्द ने पुनः प्रकाशित किया है। स्वामी जी कहते हैं "शरीर तीन हैं एक स्थूल जो यह दीखता है। दूसरा पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच सूक्ष्म भूत और मन तथा बुद्धि, इन सतरह तत्त्वों का समुदाय सूक्ष्म शरीर कहाता है। यह सूक्ष्म शरीर जन्म-मरण आदि में भी जीव के साथ रहता है। इसके दो भेद हैं, एक भौतिक अर्थात् जो सूक्ष्म भूतों के अंशों से बना है। दूसरा स्वाभाविक जो जीव के स्वाभाविक गुणरूप है। यह दूसरा अभौतिक शरीर मुक्ति में भी रहता है। इसी से जीव मुक्ति में सुख का भोगता है। तीसरा कारण (शरीर) जिसमें सुषुप्ति अर्थात् गाढ़ निद्रा होता है वह प्रकृतिरूप होने से सर्वत्र विभु और सब जीवों के लिए एक है।"[१]

१. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २४८

स्थूल शरीर के कार्य सूक्ष्म शरीर से नियंत्रित होते हैं, कृत्य एवं अनुभूत विषयों के संस्कार इसी सूक्ष्म शरीर में अन्तःकरण में चले जाते हैं। जिस पुरुष का जैसा संस्कार-प्रवाह होता है वैसा ही वह दैनिक जीवन में व्यवहार करता है। सूक्ष्म शरीर में पड़े संस्कार आदत (Habits) और स्थायी भाव (Sentiments) भी बनाते हैं। ये ही प्रसुप्तावस्था में पड़े संस्कार अर्ध-चेतन (Sub-conscious) व अचेतन मन (unconscious mind) का रूप ग्रहण कर लेते हैं। सामाजिक व नैतिक प्रतिबन्धों के कारण दबा दिये जाने वाले ये शक्तिशाली संस्कार जीवन में अनेक मानसिक रोग व मुस्थिर्या बना देते हैं। इसी शरीर में आकर असम्बद्ध विचार व अनुभूतियाँ एक दूसरे से सम्बन्ध स्थापित करती हैं। समय पड़ने पर प्रत्यभिज्ञा (Memory) भी इन्हीं संस्कारों में से कुछ संस्कारों के मन के चेतन स्तर पर आने पर होती है।

पाँच प्राण Five Vital Forces)—सूक्ष्म शरीर के अन्तर्गत शरीर में विभिन्न कार्यों को करने वाले पाँच प्राण होते हैं इनमें प्रथम प्राण जो भीतर से बाहर जाता (है) "अपान" जो बाहर से भीतर आता (है) "समान" जो नाभिस्थ हो सर्वत्र शरीर में रस पहुँचाता (है) "उदान" जिससे कण्ठस्थ अन्नपान खींचा जाता है "व्यान" जिससे सब शरीर में चेष्टा आदि कर्म जीव करता है।

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—इसके अतिरिक्त सूक्ष्म शरीर में पांच ज्ञानेन्द्रियां अपने शक्तिरूप में होती हैं। स्वामी दयानन्द का सूक्ष्म शरीर स्थित पांच ज्ञानेन्द्रियों से स्थूल शरीर की त्वचा, चक्षु, श्रोत्र, घ्राण व रसना से तात्पर्य नहीं है वरन् इनकी सूक्ष्म शक्तियों से है। भारतीय मनोविज्ञान में ज्ञानेन्द्रियों का यह शक्तिरूप व स्थूलरूप का भेद अत्यन्त महत्वपूर्ण है। स्थूल ज्ञानेन्द्रियें इन्हीं सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियों से शक्ति प्राप्त करके ही क्रियाशील होती हैं। सांख्य दर्शन इन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार से मानता है, इनकी सृष्टि स्थूल भूतों से पूर्व ही पंचतन्मात्राओं के साथ-साथ होती है। यद्यपि आधुनिक परा-मनोविज्ञान (Para-Psychology) ज्ञानेन्द्रियों की सूक्ष्म शक्तियों को स्वीकार नहीं करता। परन्तु परा-मनोविज्ञान की समस्यायें जैसे दूर-दर्शन, दूर-श्रवण व दूसरे के मन की बात जान लेना इन्हें सिद्ध करती है। दूर

१. वही, पृ० २४८

दर्शन में स्थूल चक्षुओं का सीधा वस्तु से सम्बन्ध नहीं होता इसलिए इसे मनोविज्ञान की भाषा में इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता दूरस्थ वस्तुओं का ज्ञान कैसे होता है ? भारतीय मनोविज्ञान कहता है कि सूक्ष्म इन्द्रियें अपनी असाधारण शक्ति से उन्हें जान लेती हैं । साधारण अवस्था में इन्द्रियें स्थूल इन्द्रियों व नाड़ी तन्त्र के द्वारा अपने कार्य करती हैं । परन्तु योगाभ्यास द्वारा सूक्ष्म इन्द्रियों में स्वतन्त्र कार्य करने की क्षमता उत्पन्न की जा सकती है ।

पांच सूक्ष्म भूत मन तथा बुद्धि—सूक्ष्म शरीर में पांच सूक्ष्म भूत अर्थात् शब्द, रूप, रस, स्पर्श, गन्ध भी होते हैं जिन्हें पंचतन्मात्राएँ भी कहा जाता है । इन पन्द्रह तत्त्वों (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ व पाँच सूक्ष्म भूत) के अतिरिक्त मन तथा बुद्धि सहित सतरह तत्त्वों का सूक्ष्म शरीर होता है । स्वामी दयानन्द सूक्ष्म शरीर के दो भाग भौतिक और अभौतिक करते हैं । भौतिक का वर्णन ऊपर किया गया । अभौतिक शरीर जीवात्मा की निज की शक्तियों का स्वाभाविक गुणरूप है । और यही "दूसरा अभौतिक शरीर मुक्ति में भी रहता है ।"[१]

कारण-शरीर

इसके अलावा स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों में एक अन्य शरीर कारण शरीर का भी वर्णन पाया जाता है जो कि "प्रकृतिरूप होने से सर्वत्र विभु है और सब जीवों के लिए एक है ।"[२] इसी के अन्तर्गत तमस से घनीभूत अन्तःकरण गाढ़निद्रा अर्थात् सुषुप्ति में रहता है ।

मन व इन्द्रियां

सांख्य की तरह स्वामी दयानन्द भी मन को एक इन्द्रिय ही मानते हैं । जिससे आत्मा इन्द्रियों के द्वारा बाह्य जगत से सम्बन्ध स्थापित करता है । मन और इन्द्रियों के बीच प्राण की शक्ति है । यह प्राण सारे शरीर में मुख्य रूप से पाँच प्रकार से प्राण, अपान, समान, व्यान व उदान के रूप में बहता रहता है । इसी के पाँच उपभाग नाग, कर्म, देवदत्त, कृककल, धनञ्जय

१. सत्यार्थप्रकाश, पृ० २४८

२. सत्यार्थप्रकाश पृ० २४८

के नाम से हैं। शरीर में प्राण वह शक्ति है जो शरीर को गतिशील रखती है, तथा शरीर के हर कोष्ठ व नाड़ी में स्पन्दन करती है। प्राण शक्ति मन के अधिकार में रहती है। दयानन्द के विचार में आत्मा जब कुछ करना चाहता है, वह "मन के साथ संयुक्त होकर प्राणों को प्रेरणा करके अच्छे या बुरे कामों में (मन को) लगाता है।"[1] प्राण इन्द्रियों को कार्य करने की शक्ति प्रदान करते हैं। इस प्रकार मन प्राणों द्वारा इन्द्रियों को क्रियाशील करता है।

स्वामी जी के मत में, मन कोई चेतन सत्ता नहीं है बल्कि जैसा कि अन्य वैदिक दर्शन भी मानते हैं मन प्रकृति का विकार होने से जड़ पदार्थ है।[2] परन्तु आत्मा की चित्ति शक्ति के साथ संयुक्त होकर चेतनवत् प्रतीत होता है। आत्मा की शक्ति से प्रेरित होकर ही यह कार्य में लगता है। शरीर व आत्मा का सम्बन्ध मन द्वारा होता है। मन से विषयों का सीधा सम्पर्क नहीं होता परन्तु विषयों का सीधा सम्बन्ध तो इन्द्रियों से होता है। इन्द्रियां विषय के सम्पर्क से उत्पन्न अनुभूतियों (Sensations) को ज्ञानवाही नाड़ियों द्वारा मन तक पहुँचा देती हैं।[3] उससे मन अपनी विभिन्न शक्तियों यथा सकल्प-विकल्प, स्मृति निश्चय आदि से पहले प्राप्त हुई अनुभूतियों पर विचार कर निश्चय करता है कि यह क्या पदार्थ है। उनका पूर्व प्रत्यक्ष से सम्बन्ध स्थापित करता है इससे इसमें पूर्वदृष्ट की स्मृति भी संयुक्त रहती है।

मन इन्द्रियों से उच्च प्राणों का भी स्वामी होने से इन्द्रियों को अपने वश में रखता है। मन में उत्पन्न होने वाली सूक्ष्म से सूक्ष्म विचार तरंग

---

१. सत्यार्थप्रकाश पृ० २४९

२. 'वैसे प्राण भी जड़ हैं····· । वैसे ही मन भी जड़ है व उसको हर्ष न शोक हो सकता है किन्तु मन से हर्ष, शोक, सुख-दुःख का भोग जीव करता है। सत्यार्थप्रकाश, पृ० २३८

३. जो श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण का शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के साथ अव्यवहित अर्थात् आवरणरहित सम्बन्ध होता है, इन्द्रियों के साथ मन का और मन के साथ आत्मा के संयोग से ज्ञान उत्पन्न होता है।' वही, पृ० ५०

भी इन्द्रियों पर प्रभाव डालती हैं। मन इन्द्रियों पर किस प्रकार अपनी सत्ता बनाये रहता है। इसे स्वामी दयानन्द एक वेद मन्त्र के भाष्य में कहते हैं कि "मन रस्सी से घोड़ों के समान अथवा घोड़ों के नियन्ता सारथी के तुल्य मनुष्यों को अत्यन्त इधर-उधर डुलाता है।"[1] परन्तु जब इन्द्रियों में किसी कार्य को करने की स्थायी आदत हो जाती है तब वे विषयों की ओर, अनियंत्रित शक्तिशाली अश्वों की भांति, अनायास ही मन को खींच लेती हैं। ऐसी अवस्था में मन की दुर्बलता से उन विषयों की ओर इन्द्रियों को जाने में मूक सहमति होती है।

सत्व, रज तम का मन व इन्द्रियों पर प्रभाव

सत्व, रज व तम का शरीर व मन पर प्रभाव—महत् से लेकर स्थूल पदार्थों तक समस्त रचना सत्व, रज व तम इन्हीं तीन गुणों का विकारमात्र है। मन, इन्द्रियां व शरीर भी गुणों के प्रभाव के अन्तर्गत ही आ जाते हैं। सांख्यों ने महत्—जिसे विश्व अन्तःकरण भी कहते हैं—की उत्पत्ति विशुद्ध सत्व गुण से बतायी है और सत्व गुण प्रकाश, विज्ञान व शुद्धता का द्योतक है। मन व दश इन्द्रियें सात्विक अहंकार से उत्पन्न हुयी हैं। परन्तु इनमें अन्य दो गुण रज व तम दबी हुयी अवस्था में होते हैं।[2] दूसरी तरफ शरीर जिन महाभूतों से बनता है उनमें तमोगुण प्रधान होता है। स्वामी दयानन्द सांख्य दर्शन द्वारा प्रतिपादित गुण-त्रय विभाग एवं उससे जड़ व चेतन जगत् की उत्पत्ति को यथावत् मानते हैं इससे मन व शरीर पर तीनों गुणों के प्रभाव को भी मानना उनके लिए आवश्यक है। गुणत्रय विभाग साँख्य दर्शन की एक ऐसी अद्भुद् वैज्ञानिक देन है जिसके कारण कम से कम वैदिक दार्शनिकों को अन्य विषयों पर सांख्य से असहमति रखते हुये भी गुण विभाग को मानना पड़ता है। उदाहरणार्थ स्वामी शंकर व रामानुजाचार्य सांख्य के द्वैतवाद के घोर विरोधी हैं तथा उसे नास्तिक दर्शन मानकर आलोचना भी करते हैं। परन्तु सत्व रज व तम के विभाग को वे भी मानते हैं। जिस

---

१. वही पृ० १८२

२. साँख्य कारिका न० २५ ईश्वर-कृष्ण—इस पर वाचस्पति मिश्र की साँख्य-तत्त्व-कौमुदी में भाष्य।

पदार्थ से मन, इन्द्रिय व शरीर बने हैं उसी पदार्थ में कुछ थोड़ा बहुत इधर-उधर करने से संसार के सारे पदार्थों का निर्माण हुआ है। अतः शरीर तथा मन पर उनका प्रभाव पड़ना अनिवार्य ही है। वास्तव में तीन गुणों के मानव जीवन पर प्रभाव की धारणा वैदिक मनोविज्ञान की आधारभूत विशेषता है जिसके ऊपर मानव का ही नहीं वरन् सारे प्राणी जगत का व्यवहार आधारित है।

सत्व, रज व तम का प्रभाव हमारे व्यवहार पर किस प्रकार पड़ता है? इस प्रश्न को दयानन्द शरीर में तीनों गुणों की स्थिति व उत्कर्ष का वर्णन करते हुये कहते हैं "जब आत्मा में ज्ञान हो तब सत्व, जब अज्ञान रहे तब तम और जब राग व द्वेष में आत्मा लगे तब रजोगुण जानना चाहिये। ये तीन प्रकृति के गुण सब संसारस्थ पदार्थों में व्याप्त होकर रहते हैं।"[1] यद्यपि तीनों गुण बराबर हम पर अपना प्रभाव अनेक प्रकार से डालते रहते हैं परन्तु एक काल में एक ही गुण का प्रभाव प्रधान होता है बाकी दो गौण हो जाते हैं और जिस काल में "जो गुण इन जीवों के देह में अधिकता से बर्तता है" "वह गुण उस जीव को अपने सदृश कर लेता है।"[2] इन गुणों का क्या-क्या प्रभाव व उनके उत्कर्ष में प्राणी की क्या स्थिति होती है वह इससे समझा जा सकता है। दयानन्द कहते हैं "जब आत्मा में प्रसन्नता मन प्रशान्त के सदृश शुद्धभानयुक्त वर्ते तब समझना कि सत्व गुण प्रधान और रजोगुण तथा तमोगुण अप्रधान हैं। जब आत्मा और मन दुखसंयुक्त, प्रसन्नतारहित विषय में इधर-उधर गमन आगमन में लगे तब समझना कि रजोगुण प्रधान, सत्वगुण और तमोगुण अप्रधान हैं। जब मोह अर्थात् सांसारिक पदार्थों में फंसा हुआ आत्मा और मन हो, जब आत्मा और मन में कुछ विवेक न रहे, विषयों में आसक्ति, तर्क-वितर्करहित-जानने के योग्य न हो तब निश्चय समझना चाहिये कि इस समय मुझ में तमोगुण प्रधान और सत्व गुण तथा रजोगुण अप्रधान हैं। अब जो इन तीन गुणों का उत्तम, मध्यम और निकृष्ट फलोदय होता है उसको पूर्ण भाव से कहते हैं। जो वेदों का अभ्यास धर्मानुष्ठान ज्ञान की वृद्धि, पवित्रता की इच्छा, इन्द्रियों का

१. सत्यार्थ प्रकाश पृ० २५६
२. सत्यार्थ प्रकाश पृ० २५६

निग्रह, धर्मक्रिया और आत्मा का चिन्तन होता है यही सत्वगुण का लक्षण है। जब रजोगुण का उदय, सत्व और तमोगुण का अन्तर्भाव होता है तब आरम्भ में रुचिता, धैर्यत्याग, असत् कर्मों का ग्रहण, निरन्तर विषयों की सेवा में प्रीति है, तभी समझना कि रजोगुण प्रधानता से मुझ में वर्त रहा है। जब तमोगुण का उदय और दोनों का अन्तर्भाव होता है तब अत्यन्त लोभ अर्थात् सब पापों का मूल बढ़ता, अत्यन्त आलस्य और निद्रा, धैर्य का नाश, क्रूरता का होना नास्तिक्य अर्थात् वेद और ईश्वर में श्रद्धा का न रहना, भिन्न-भिन्न अन्तःकरण की वृत्ति और एकाग्रता का अभाव और निन्दीं व्यसनों में फंसना होवे तब तमोगुण का लक्षण विद्वान को जानने योग्य है। तथा जब अपनी आत्मा जिस कर्म को करके, करता हुआ और करने की इच्छा से लज्जा, शंका और भय को प्राप्त होवे तब जानो कि मुझमें प्रवृद्ध तमोगुण है। जिस कम से इस लोक में जीवात्मा पुष्कल प्रसिद्धि चाहता, दरिद्रता होने में भी चारण, भाट आदि को दान देना नहीं छोड़ता तब समझना कि मुझमें रजोगुण प्रबल है। और जब मनुष्य का आत्मा सबसे जानने को चाहे, गुण ग्रहण करता जाय, अच्छे कामों में लज्जा न करे और जिस कर्म से आत्मा प्रसन्न होवे अर्थात् धर्माचरण में ही रुचि रहे तब समझना कि मुझमें सत्व गुण प्रबल है। तमोगुण का लक्षण काम, रजोगुण का अर्थ-संग्रह की इच्छा और सत्व गुण का लक्षण धर्म सेवा करना है परन्तु तमोगुण से रजोगुण और रजोगुण से सत्वगुण श्रेष्ठ है।"[1] क्योंकि सत्वगुण प्रकाश विज्ञान को देने वाला है रजोगुण विद्वेष तथा तमोगुण अज्ञान का प्रतीक है।

स्वामी जी यह पहले कह चुके हैं कि प्रकृति के समस्त पदार्थ इन्हीं तीन गुणों के विकार हैं। इससे प्राणियों के व्यवहार की वस्तुयें भी इन्हीं तीन गुणों को उत्पन्न करने वाली हैं। भोजन, वस्त्र, रहने-सहने की प्रणाली तथा आस-पास का वातावरण यह सब मानव व्यवहार पर इसी प्रकार का प्रभाव डालते हैं, उदाहरणार्थ प्रकृति का सौंदर्य मन में शान्त भाव उत्पन्न करता है। भोजन से भी इसी प्रकार के प्रभाव होते हैं। अधिक चरपरा भोजन रजोगुण, ताजे फल सात्विक व बासी भोजन तमोगुणी वृत्ति उत्पन्न करता है। स्वामी जी भक्ष्याभक्ष्य प्रकरण में भोजन में इन तीनों प्रकार के

१. सत्यार्थ प्रकाश पृ० २५६–२६०

गुणों को बताते हुए कहते हैं कि मांसाहारी "मनुष्य का स्वभाव मांसहारी होकर हिंसक हो जाता है।"[1] गुण प्राधान्य के अनुसार प्राणियों के अन्तःकरण तथा उनकी वृत्तियाँ भी उसी प्रकार की हो जाती हैं जिस प्रकार के गुण की अन्तःकरण में प्रधानता होती है।

अन्तःकरण में स्थित वृत्ति-प्रवाह नदी के वेग की तरह अपनी गति से प्रवाहित होता रहता है। जिससे सुख दुख व पुनर्जन्मादि होता है। सतोगुणी, रजोगुणी व तमोगुणी प्रधान वृत्तियों वाले प्राणी मृत्यु के पश्चात् किन-किन गतियों को प्राप्त होते हैं तथा कहां-कहां जन्म प्राप्त करते हैं, इस विषय पर दयानन्द हमको मनुस्मृति के प्रमाण से एक लम्बा विवरण देते हैं। जिसका मुख्य आशय है कि "जो मनुष्य सात्विक हैं वे देव अर्थात् विद्वान, जो रजोगुणी होते हैं वे मध्यम मनुष्य और जो तमोगुणयुक्त होते हैं वे नीच गति को प्राप्त होते हैं।"[2] इस प्रकार सतोगुण अन्य गुणों से सर्वथा उच्च कोटि का है। परन्तु गुण चाहे सात्विक हो या तामसिक बन्धन तो है ही, जैसे कि एक पशु लोहे की जंजीर में बंधा हो चाहे स्वर्ण की जंजीर से परन्तु है बंधा हुआ ही। मनुष्य को, गुणों के बन्धन से छूटे बिना मोक्ष नहीं मिल सकती। इसी से स्वामी दयानन्द सतोगुण के द्वारा निम्न गुण को दबाकर और बाद में सतोगुण से भी छुटकारा पाने का उपदेश करते हैं। वे कहते हैं कि "मनुष्य रजोगुण, तमोगुणयुक्त कर्मों से भी मन को रोक शुद्ध सत्वगुण-युक्त कर्मों से भी मन को रोक शुद्ध सत्वगुणयुक्त हो पश्चात् उसका निरोध कर एकाग्र अर्थात् एक परमात्मा और धर्मयुक्त कर्म इनके अग्रभाग में चित्त को ठहरा रखना निरुद्ध अर्थात् सब ओर से मन की वृत्ति को रोकना जब चित्त एकाग्र और निरुद्ध होता है तब सबके द्रष्टा ईश्वर के स्वरूप में जीवात्मा की स्थिति होती है।"[3] इससे पूर्व किसी भी प्रकार का गुणों का बन्धन जीवात्मा को परमात्मा के स्वरूप में स्थित होने से रोकता है।

योग व मन संयम

प्राणियों का मन (योग की भाषा में चित्त) एक ऐसा अद्भुत तत्त्व है जो सदैव किसी न किसी कार्य में संलग्न रहता है। मन की सदैव चंचल

१. वही पृ० २६४ २. वही पृ० २६१ ३. वही पृ० २६२

व बदलने वाली दशाओं को ही योग दर्शनकार ने चित्तवृत्ति कहा है। ये चित्तवृत्तियें संख्या में असंख्य होती हैं जैसा कि वाचस्पति कहते हैं, परन्तु योगदर्शनकार ने इनको पांच विभागों में बांट दिया है। स्वामी दयानन्द यहां भी योगदर्शन के वृत्ति-विवरण से सहमत हैं। **ये पाँचों वृत्तियां इस प्रकार हैं, प्रमाण, विपर्यय (भ्रम) विकल्प, निद्रा और स्मृति।**

प्रमाण—योग दर्शन ने तीन प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान व शब्द माने हैं। परन्तु स्वामी दयानन्द आठ प्रमाण माने हैं जिनमें यह तीन भी हैं। तथापि इससे इसका कोई विरोध नहीं है। इनका वर्णन प्रमाण-विद्या के अध्याय में किया जा चुका है।

विपर्यय—"जिससे मिथ्या ज्ञान हो अर्थात् जैसे को तैसा न मानना अथवा अन्य में अन्य की भावना कर लेना" विपर्यय है।

विकल्प—'जिसका शब्द तो हो परन्तु किसी प्रकार का अर्थ किसी को ना मिल सके।"

निद्रा—"जो वृत्ति अज्ञान व अविद्या के अन्धकार में फंसी हो।" यहां दयानन्द का तात्पर्य तमोगुण के घोर अन्धकार में फंसी मन की ऐसी स्थिति से है जैसी कि गहन निद्रा में होती है। यहां जीव को तमोगुण की गहनता के कारण स्वप्न भी नहीं होते और चेतना भी लुप्त प्रायः हो जाती है। व्यास का कथन है कि इससे उठने के बाद केवल आराम व आलस्य का अनुभव रहता है। इससे निद्रा में भी मन की विशेष स्थिति बनी रहती है। इससे यह मन की ही वृत्ति है।

स्मृति—"जिस व्यवहार या वस्तु को प्रत्यक्ष देख लिया हो उसी का संस्कार ज्ञान में बना रहता है और उस विषय को भूले नहीं, इस प्रकार की वृत्ति को स्मृति कहते हैं।"[1] व्यास स्मृति को स्वप्न और जाग्रत दो प्रकार की बताते हैं। दयानन्द इस विषय में मौन हैं। (परन्तु वे योगदर्शन पर व्यास भाष्य को प्रमाण मानते हैं। इससे हमारे विचार में व्यास में और दयानन्द में विरोध नहीं है।)

---

१. वृतियों के विवरण के लिये दयानन्द ग्रंथमाला भाग २, पृ० ४६६–४६७ शताब्दी संस्करण देखिये।

पाँच क्लेश—वे पांचों वृत्तियां क्लिष्ट (क्लेश सहित) और अक्लिष्ट (क्लेशरहित) दो प्रकार की होती हैं। स्वामी दयानन्द का क्लेशरहित वृत्तियों से ऐसी वृत्तियों से तात्पर्य है जो अविद्या आदि क्लेशों से उत्पन्न होती हैं, परन्तु जो उपासक योगी हैं उनकी वृत्तियां क्लेशरहित शान्त होती हैं।[1] अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश पांच क्लेश हैं। "अनित्य संसार और देहादि में नित्य ··· । अशुचि अर्थात् मलमय स्त्र्यादि के और मिथ्या भाषण चोरी आदि अपवित्र में पवित्र ··· ··· दुख में सुख और अनात्म में आत्म बुद्धि"[2] करना अविद्या है। "पृथक वर्तमान बुद्धि को आत्मा से भिन्न न समझना अस्मिता, सुख में प्रीति राग दुख में अप्रीति द्वेष और मृत्यु दुख से त्रास अभिनिवेश कहाता है।"[3] लेकिन इन सब में अविद्या ही प्रमुख है। पातंजलि कहते हैं कि यही आकी सबकी उत्पत्ति की भूमि (कारण) है। स्वामी दयानन्द का भी यह निश्चय है कि 'यह चार प्रकार की अविद्या संसार के अज्ञानी जीवों को बन्धन का हेतु होने से उनको नचाती रहती है।'[4]

मन संयम व योग—वैदिक मनोविज्ञान, मन व उसकी शक्तियों, वृत्तियों, उनकी उत्पत्ति व जीवन पर प्रभाव, इत्यादि विश्लेषणात्मक अध्ययन करने के पश्चात् मन-संयम का व्याख्यान करता है। जिसके द्वारा प्राणी अपने वास्तविक लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है। योगसूत्रों में इस शास्त्र का उप-संहार करते हुए पातंजलि कहते हैं कि जब तीनों गुण अपना कार्य समाप्त कर देते हैं अर्थात् संस्कारों को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं रहती और पुरुष अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है वह कैवल्य है, वही इस शास्त्र के व्याख्यान का उद्देश्य है। वैदिकों ने मनोविज्ञान की रचना मानव-स्वभाव, व्यवहार-व संस्कार आदि को समझने व सुधारने के लिए की है ताकि लक्ष्य प्राप्ति में बाधक संस्कारों को हटाया जा सके। स्वामी दयानन्द भी मनोविज्ञान को मन-संयम के लिए प्रयोग करते हैं।

---

१. वही, पृ० ४६६
२. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २३६ ३. वही, पृ० २५०
४. दयानन्द ग्रन्थमाला, पृ० ४८८

योग का अर्थ—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'[1] पातंजलि ऋषि योग को चित्तवृत्ति निरोध के अर्थों में बताते हैं। इस सूत्र में 'योग' व 'निरोध' इन दो शब्दों पर विद्वानों में काफी चर्चा है। योग शब्द के अर्थ व्यास जी ने 'योगः समाधिः'[2] के रूप में किए हैं। इसकी पुष्टि में वाचस्पति कहते हैं कि योग शब्द 'युज्' धातु से बना है जिसका अर्थ समाधि है। समाधि अवस्था में चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाता है इसीलिए शास्त्रकार ने योग का अर्थ 'चित्तवृत्तियों का निरोध" किया है। महर्षि व्यास द्वारा योग का अर्थ समाधि से करने के कारण विद्वानों में यह विचार घर कर गया कि योग केवल चित्त-वृत्ति-निरोध ही है तथा पातंजलि का योग शब्द का तात्पर्य परमात्मा से मिलाने से नहीं है। स्वयं व्यास जी ने ऐसा तो नहीं कहा परन्तु उन्होंने भी अपने भाष्य में यह कहीं नहीं कहा कि योग परमात्मा से मिलाने के अर्थों में भी है। "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्"[3] के भाष्य में भी व्यास पुरुष को अपनी निज की शुद्धता में स्थित होना कहते हैं। इससे भी सन्देह बढ़ जाता है कि यह शास्त्र योग से जीवात्मा का परमात्मा से मिलन नहीं कहता। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वान योग को मिलाने के ही अर्थों में लेते हैं कि ब्रह्म-प्राप्ति कराना ही योग का अर्थ है। और जो पातंजलि ने योग को चित्त-वृत्ति-निरोध बताया है वह वृत्तियों का दमन करना है।

स्वामी दयानन्द "योगश्चित्त-वृत्ति-निरोधः" की व्याख्या में योग शब्द को केवल समाधि के अर्थों में ही नहीं वरन् परमात्मा से मिलन में भी लेते हैं। वे कहते हैं "चित्त की वृत्तियों को सब बुराइयों से हटाकर, शुभ गुणों में स्थिर करके परमेश्वर के समीप में मोक्ष को प्राप्त करने को योग कहते हैं।"[4] इस स्थल पर दयानन्द का न तो पातंजलि से मतभेद है और न व्यास से। विचार करने पर पता चलता है कि चित्त की वृत्तियों के निरुद्ध होने से जीवात्मा का परमात्मा से स्वयं ही मेल हो जाता है।

---

१. योग सूत्र, १–२
२. योग सूत्र, १–१ पर व्यास भाष्य
३. योग सूत्र, १–३
४. दयानन्द ग्रन्थमाला. भाग २, पृ० ४६६।

परमात्मा के सर्वव्यापक होने से जहाँ कहीं भी जीवात्मा होगा वहाँ परमात्मा पहिले से ही विद्यमान है अतः स्थान विशेष पर जीवात्मा व परमात्मा के मिलन का प्रसंग ही नहीं उत्पन्न होता। परन्तु चित्त में स्थित वृत्तियें परमात्मा के साक्षात्कार में बाधक हैं। शुद्ध जीव ही परमात्मा को प्राप्त कर सकता है। इससे पातंजलि ने योग को चित्त की वृत्तियों का निरोध कहा है। और यदि जीवात्मा की स्वरूप-स्थिति ही योग मानी जाय तब इसके दो ही अर्थ हो सकते हैं। एक तो यह कि जीव ही ब्रह्म है जो योग से अविद्योपाधि के नष्ट होने पर अपने स्वरूप में स्थित हो ब्रह्म हो जाता है और या दूसरे कि पातंजलि जीव के द्वारा ब्रह्म के साक्षात्कार को नहीं मानते। परन्तु ये दोनों ही बातें पातंजलि को मान्य नहीं हैं। प्रकृति व पुरुष का द्वैत मानने से वे अद्वैतवादी नहीं हैं तथा अपने शास्त्र ईश्वर का वर्णन करने से अनीश्वरवादी भी नहीं हैं। इसके अतिरिक्त श्रुति कहती है कि "परमात्मा को जाने बिना मृत्यु से नहीं छूटा जा सकता"[1] और पातंजलि श्रुति को प्रमाण मानते हैं, अतः यह भी नहीं माना जा सकता कि पातंजलि जीव का ब्रह्म से साक्षात्कार नहीं मानते। इससे यही प्रतीत होता है कि दयानन्द द्वारा बताया गया योग का अर्थ ठीक है कि "वृत्ति निरोध होकर परमेश्वर में स्थित हो जाता है।" इससे योग शब्द निरोध व संयोग दोनों अर्थों में लिया जा सकता है।

कुछ विद्वान् निरोध शब्द का "दबाना" (Suppression) अर्थ करते हैं। इससे वह आरोप लगाते हैं कि योगशास्त्र वृत्तियों का दमन करना बताता है जीतना नहीं। इससे पातंजलि का योग मार्ग हठयोग का मार्ग है। परन्तु विद्वानों का इस प्रकार का कथन योगदर्शन को न समझने के कारण ही है। दयानन्द जी के विचार से निरोध का तात्पर्य वृत्तियों पर विजय प्राप्त करना है। वे कहते हैं कि मनुष्य को अपने को सत्य से विचलित करने वाले दुर्गुणों से हटा लेना चाहिये तथा सत्य में मन का समाधान करना चाहिये। इससे निरोध का अर्थ दबाना (Suppression) नहीं होता। स्वयं पातंजलि मुनि ने कहीं भी वृत्तियों को दबाने की बात नहीं कही

१. यजुर्वेद, ३१-१८।

पातंजलि मुनि वृत्तिक्षय के लिये अष्टाँग-मार्ग, यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधि को बताते हैं। इस मार्ग में यम और नियम बिचार व कर्म की शुद्धि को बताते हैं तथा पातंजलि मुनि का उन्हें प्रारम्भ में रखने का स्पष्ट तात्पर्य यह है कि वे चित्त-संयम के लिये बिचारों व कर्मों की शुद्धि अत्यावश्यक समझते थे। इसके अतिरिक्त योग दर्शनकार अभ्यास और वैराग्य के द्वारा वृत्ति-निरोध को बताते हैं। इस पर व्यास मुनि कहते हैं कि चित्त की दो धाराएं कल्याणवाहिनी व पापवाहिनी होती हैं। इनमें कल्याणवाहिनी धारा विवेकविषया है जिसका फल कैवल्य है इनमें विवेक ज्ञान के अभ्यास से विवेक का स्रोत खोला जाता तथा वैराग्य से विषयों के स्रोत नष्ट किये जाते हैं। इन दोनों के अभ्यास से ही चित्त वृत्ति निरोध होता है।[1] इससे यह स्पष्ट पता चलता है कि योगदर्शन वृत्ति निरोध को विवेकपूर्ण वैराग्य से बताता है। यहां पर वृत्तियों को शक्तिपूर्वक दबाना उनका तात्पर्य नहीं है। यही गीता भी मानती है कि अभ्यास और वैराग्य से मन शान्त हो जाता है।[2] दूसरे अध्याय के पहले सूत्र में तप, स्वाध्याय व ईश्वर प्रणिधान ये तीन क्रियायोग के आवश्यक अंग बताये हैं। तप की व्याख्या में व्यास कहते हैं कि तपहीन व्यक्ति योग को प्राप्त नहीं कर सकता क्योंकि अनादि कर्म व क्लेश बिना तप से समाप्त नहीं सकते। वाचस्पति कहते हैं कि तप से भाष्यकार का तात्पर्य वहीं तक है जहां तक वे पापों को नष्ट करते हैं परन्तु शरीर को हानिकारक नहीं है।[3] तप के साथ स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान हैं इनमें स्वाध्याय का तात्पर्य शुद्धता की ओर ले जाने वाले ग्रन्थों का अध्ययन है तथा ईश्वर प्रणिधान का अर्थ सब कर्मों व फलों

---

१. 'अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः'। योग सूत्र, १–१२। इस पर व्यास भाष्य।

२. गीता ६–३५।

३. 'The meaning is that so much.....as does not cause the disturbance of the equilibrium of Physiological forces.' Vachaspati Gloss on Vyas Bhashya 1/12 Edt. by Maj B. D. Basu.

को परम गुरु परमात्मा के अर्पण करना है।[1] हम नहीं समझते कि इसमें और गीता के कर्मयोग में क्या अन्तर है। अतः निरोध का अर्थ दबाना नहीं हो सकता वरन् जीतना तथा परिवर्तन करना (Transformation) ही अधिक युक्तिसंगत है और यही शास्त्र का तात्पर्य भी है।

मोक्ष की प्राप्ति के लिये मन को एक विशिष्ट प्रकार की साधना करनी पड़ती है और वह है सत्य प्राप्ति की तीव्र अभिलाषा का सतत् रहना। वैसे तो मन को अनेक रास्तों से वश में किया जा सकता है जिनमें से कुछ का दिग्दर्शन पातंजलि ने किया भी है। सत्य को जानने की उत्कट अभिलाषा तथा उसके लिये किये गये सम्यक् कर्म, सत्य के द्वारों को साधक के लिये खोल देते हैं और साधक को यथाशक्ति सत्य के वातायान में विचरने की स्वतंत्रता भी दे देते हैं। प्रकृति जन-साधारण के लिये बन्द अपने द्वारों पर दस्तक देने वाले को पूरी तरह पहिचानती है कि कौन उसके अलौकिक प्रांगण में प्रवेश पाने का अधिकारी है और अधिकारी के लिये उसके द्वार तुरन्त खुल जाते हैं। सांख्यों का बताया प्रकृति-पुरुष-विवेक का मार्ग भी एक मार्ग है इसे ही ज्ञानमार्ग कहते हैं। तथा प्राणायाम द्वारा भी मन संयमित किया जा सकता है। परन्तु मन को संयमित करने के लिए ईश्वर प्रणिधान अर्थात् ईश्वर की उपासना को स्वामी दयानन्द सर्वोत्तम मार्ग मानते हैं। वह कहते हैं कि ईश्वर में विशेष भक्ति होने से मन का समाधान होके मनुष्य समाधियों को शीघ्र प्राप्त हो जाता है।"[2]

योग के अन्तराय—मन संयम के मार्ग में, जैसा कि पातंजलि कहते हैं विघ्न बाधायें आती हैं क्योंकि साधना से पूर्व मन व शरीर का निर्माण जगत् में उस व्यवहार के अनुरूप होता है जिसे साधक साधना से पूर्व करता था। परन्तु साधना-काल में, जबकि एक नये प्रकार का जीवन बनाने की दिशा में कार्य किया जाता है तब उस व्यवहार के अनुकूल शरीर व मन भी बनना चाहिए। साधना में वासनामय जीवन से दैवी जीवन तक पहुँचने के

---

१. 'ईश्वर प्रणिधानाद् सर्व क्रियाणां परमगुरावर्पणं।' योग सू० २–१ पर व्यास भाष्य।

२. दयानन्द ग्रंथमाला, भाग २, पृ० ४६७।

काल को परिवर्तन का काल कहा जा सकता है। वासनाएं अपनी सत्ता छोड़ने में झिझकती हैं और उपासक के मन को बार-बार वापस अपनी ओर खींचती हैं। वासना और साधना के इस संघर्ष में अनेक प्रकार की व्याधिएं शरीर में हो जाती हैं जिन्हें योग दर्शन के अनुसार स्वामी दयानन्द ने भी नौ माना है। जो इस प्रकार हैं; व्याधि-स्त्यान-संशय-प्रमाद-आलस्य-अविरति-भ्रान्तिदर्शन-अलब्धभूमिकत्व ब अनवस्थितत्व। साधना के मार्ग में ये अन्तराय मन को एकाग्र होने से रोकते हैं। इनके अतिरिक्त पाँच चित्त-विक्षेप दुःख-दौर्मनस्य-अंगमजेयत्व-श्वास-प्रश्वास भी अन्तरायों के साथ ही उत्पन्न होते हैं। ये भी साधना में विघ्न डालते हैं[1]। पातंजलि कहते हैं कि इन व्याधियों को जीतने का एक ही मार्ग है[2] और वह है **एक तत्त्व का निरन्तर अभ्यास**। एक ही विषय की निरन्तर साधना से व्याधियां स्वयं ही नष्ट होजाती हैं। व्यास चित्त विक्षेपों के नाश के लिये बताये एक तत्त्व अभ्यास को बताते हैं कि जिससे चित्त एक ही तत्त्व का अभ्यासी हो जाय लेकिन वाचस्पति मिश्र ने एक तत्त्व का अर्थ ईश्वर से लिया है। स्वामी दयानन्द भी एक तत्त्व से ईश्वर को ही बताते हैं कि वही (ईश्वर) एक उन विघ्नों के नाश करने को वज्ररूप शस्त्र है अन्य नहीं। साधना में ईश्वर साधक की सहायता करता है तथा उसे कुमार्ग से बचने की निरन्तर प्रेरणा देता रहता है। इस पर प्रश्न उठता है कि ईश्वर को न मानने वाले बौद्ध ब जैन क्या सिद्धि की प्राप्ति नहीं कर सकते ? हमारे विचार से ऐसी बात नहीं है। हम देखते हैं कि इतिहास में महावीर ब बुद्ध सरीखे ऐसे बहुत से सिद्ध हो गये हैं जो बिना ईश्वर को मानते हुये भी परमपद को प्राप्त कर गये हैं। सांख्यों के मार्ग में भी ईश्वर-प्राणिधान् का कहीं उल्लेख नहीं है। सांख्य प्रकृति ब पुरुष के विवेक के द्वारा ही कैवल्य को सम्भव बताते हैं। इससे यही पता चलता है कि बिना ईश्वर को माने भी साधना में सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। अतः यहां पर एकतत्त्व का अर्थ केवल ईश्वर ही नहीं है।

---

१. (*i*) ऋ० भाष्यभूमिका, पृ० १८१ ले० महर्षि दयानन्द।
(*ii*) योग सूत्र, १–३० ब ३१।

२. तत्प्रतिषेधार्थमेक तत्वाभ्यासः। योगदर्शन १, ३२

एकतत्त्व के अभ्यास से महर्षि पातंजलि का तात्पर्य एक ही ध्येय में अविराम तन्मयता से है। यही योग का वैज्ञानिक स्वरूप है। वह एकतत्त्व ईश्वर भी हो सकता है। परन्तु योग द्वारा प्राप्त परम सिद्धि एक ही है और वह ईश्वर की प्राप्ति है।

इसके अलावा शरीर, मन व कर्मों को साधने तथा उपासना योग्य बनाने के लिये स्वामी जी योगदर्शन के अष्टांग मार्ग यम, नियम, आसन' प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि को ही कहते हैं। परन्तु दयानन्द के दर्शन में इनकी तह में ईश्वर प्रणिधान् अर्थात् ईश्वर की उपासना व आश्रय मुख्य हैं। इसी से वह इसे उपासना योग कहते हैं।

६

नीतिशास्त्र
(ETHICS)

जीव की कर्म स्वतन्त्रता

प्रश्न—जीव स्वतन्त्र है या परतन्त्र ?

(दयानन्द) **उत्तर**—अपने कर्त्तव्य कर्मों में स्वतन्त्र और ईश्वर की व्यवस्था में परतन्त्र। **'स्वतंत्र कर्त्ता''** यह पाणिनीय व्याकरण का सूत्र है, जो स्वतन्त्र अर्थात् स्वाधीन है वही कर्त्ता है। **सत्यार्थप्रकाश, पृ० १६०**

नीतिशास्त्र में यह प्रश्न अत्यन्त महत्व का है कि जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है या नहीं। कुछ धर्मज्ञ पण्डितों का कहना है कि संसार का सारा व्यापार परमात्मा की इच्छा से होता है। उसकी इच्छा के विरुद्ध एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। नियतिवाद की यह धारणा जन साधारण के साथ-साथ अनेक विद्वानों पर भी अपनी छाप जमाये हुये है। श्री निवासाचारी जैसे विद्वान् गीता में भी इसी नियतिवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं कि परमात्मा को कर्त्ता समझो तथा सारे कर्म उसी के द्वारा पूर्व नियोजित हैं।[1] यद्यपि विद्वान् लेखक आगे कहते हैं कि जीवात्मा को पशुवृत्तियों पर विजय पाने और कर्मेन्द्रियों को अपने अधिकार में करने की स्वतन्त्रता है, परन्तु इस संसार में वास्तविक कर्त्ता ईश्वर ही है और जीवात्मा अपने को परमात्मा की इच्छा के अनुरूप बनाने में स्वतन्त्र है। किन्तु आगे वह स्वयं इस बात को अस्वीकार करते हैं कि स्वतन्त्रता एक वास्तविक

---

१. "Regard all your actions as determined by Bhagwan or God as the ultimate subject or Karta." (The Ethical Philosophy of the Gita, P. 100 by Shri P. N. Shri Nivasachari.)

सम्भावना है तथा व्यक्ति अपने को दैवी रूप की ओर भी ले जा सकता है और पाप में भी डुबा सकता है।[1]

एक बार कर्मों को परमात्मा द्वारा निश्चित किये जाना, मान लेने पर कर्म करने में जीव को स्वतन्त्र कहना केवल शब्द जंजालमात्र है, क्योंकि फिर चाहे जीवात्मा दैवी गुणों की ओर अग्रसर हो या पापवृत्ति में लगे, यह सब कर्म हैं जो फल पैदा किये बिना नहीं रह सकते। और यही कर्म स्वतन्त्रता मानने वालों का कथन है। स्वामी दयानन्द ऐसे काल में पैदा हुए थे जबकि जन साधारण के मन में यही भावना थी कि 'होवत वही जो राम रच राखा' तथा 'सकल पदार्थ हैं जग माहीं। बिना भाग्य नर पावत नाहीं।।' उन्होंने इस दैववाद व भाग्यवाद के विरुद्ध वेदों, उपनिषदों तथा दर्शनग्रन्थों के आधार पर यह सिद्धान्त रक्खा कि जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है परन्तु कर्मों के फल भोगने में परमात्मा के आधीन है, जैसा कोई प्राणी इस संसार में करता है परमात्मा एक सच्चे न्यायाधीश की भाँति उसके कर्मों का वैसा ही फल उसे प्रदान कर देता है। इनके मत में परमात्मा जीवात्मा के कर्मों का कर्त्ता नहीं किन्तु कर्मफल का नियामक है।

संसार में जितने भी सुख-दुःख हैं वे सब जीव केइन्हीं स्वतन्त्र कर्मों के फलस्वरूप पैदा होते हैं। इससे परमात्मा में वैषम्य (विषम-बुद्धि) न नैर्घृण्य (निर्दयता) आदि दोष नहीं लगते। क्योंकि परमात्मा स्वयं अपनी इच्छा से किसी को सुख-दुख नहीं देता। कर्म-स्वातन्त्रय को न मानने वाले तथा संसार को परमात्मा की लीला स्थली मानने वाले अन्य मतों में यह दोनों ही दोष लगते हैं। दयानन्द के मत में परमात्मा राग-द्वेष से रहित होने से न किसी को क्षमा करता है और न किसी को व्यर्थ दण्ड देता है। वह तो गीता के शब्दों में प्राणियों के कर्मों में समबुद्धि है।[2] और जो हठ-पूर्वक यही माने कि परमात्मा ही कर्त्ता है तो इसके उत्तर में दयानन्द कहते हैं कि यह सिद्धान्त ठीक नहीं है 'क्योंकि जो परमेश्वर कर्म करता तो कोई

---

१. Ibid, P. 102.

२. 'समोऽहं सर्वभूतेषु'। गीता ९–२९

जीव पाप नहीं करता क्योंकि परमेश्वर पवित्र व धार्मिक होने से किसी जीव को पाप करने में प्रेरणा नहीं करता।"[1]

इसके अतिरिक्त कर्म-स्वातन्त्र्य को न मानने पर हमारे सामने नियतिवाद का ही सिद्धान्त शेष रह जाता है जिसके पालन करने पर प्राणियों में पुरुषार्थहीनता का फैलना स्वाभाविक है। स्वामी दयानन्द पुरुषार्थहीनता को मनुष्यों का सबसे बड़ा दुर्गुण व शत्रु समझते हैं। सांख्य शास्त्र मोक्ष की प्राप्ति पुरुषार्थ ही से मानता है। और तो क्या तप स्वयं परम पुरुषार्थ का ही दूसरा नाम है। अतः यदि नियतिवाद से पुरुषार्थ की मान्यता समाप्त हो जाय—जैसा कि देखा भी जाता है—तो मानव जाति उन्नति नहीं कर सकती। इससे दयानन्द ने मानव जाति की मूल निर्बलता के सही-सही कारण को समझकर कर्म करने का उपदेश देकर उपनिषदों की नीति-शास्त्र सम्बन्ध मूल भावना का फिर से प्रचार किया कि "मनुष्य सौ वर्ष पर्यन्त अर्थात् जब तक जीवे तब तक कर्म करता हुआ जीने की इच्छा करे, आलसी कभी न हो।"[2] वेदों व उपनिषदों में मनुष्य के लिये अनेक विधि-निषेध हैं जिन पर चल कर मनुष्य को उन्नति करने का आदेश दिया गया है। गीता रहस्य के विद्वान् लेखक लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक कहते हैं कि यदि कर्म स्वातन्त्र्य को न माना जाय तब "अमुक प्रकार से बुद्धि को शुद्ध करना चाहिये, अमुक कार्य करना चाहिए, अमुक नहीं करना चाहिये, अमुक धर्म्य है, अमुक अधर्म्य है इत्यादि विधि-निषेध शास्त्र के सब झगड़े ही आप ही आप मिट जायेंगे।'[3] और फिर वेदान्त शास्त्र सब निरर्थक हो जायेंगे। कान्ट ने नीतिशास्त्र में कर्म-स्वतन्त्रता के प्रश्न को भली-भाँति समझा था, इसलिए नीति की तीन मान्यताओं में उसका भी स्थान है।

स्वामी दयानन्द जीवात्मा को परमात्मा के आधीन तो कहते हैं परन्तु कर्म में नहीं वरन् भोग में। नियतिवाद जीव को कर्म और भोग दोनों में परतन्त्र मानते हैं। दयानन्द के दर्शन में मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं

१. सत्यार्थप्रकाश, पृ० १९१
२. सत्यार्थप्रकाश, पृ० १८३
३. गीतारहस्य, पृ० २६९–२७० (१९५०)

निर्माता है।[1] भाग्यवादियों के मत में वह ईश्वर आधीन है। दयानन्द अपने ही पुरुषार्थ से मोक्ष-प्राप्ति को बताते हैं जबकि भाग्यवादी दैव-कृपा से।

कर्म-स्वातन्त्र्य को मानने पर कर्मफल का सिद्धान्त स्वयं ही सिद्ध हो जाता है। परन्तु कुछ ऐसे भी सम्प्रदाय हैं जो सही रूप से नियतिवाद के अन्तर्गत नहीं आते। इससे उन्हें नियतिवादी कहने के स्थान पर दैव-कृपावादी कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। ईसाई सम्प्रदाय के अनुसार ईसा मसीह पर ईमान लाने से ईश्वर पापों को क्षमा कर देता है। मुस्लिम सम्प्रदाय का कथन है कि मौहम्मद पर ईमान रखने वाले दोजख की भयानक आग से बच जायेंगे और अल्लाह उनके पापों को क्षमा कर देगा। स्वामी दयानन्द इन दोनों ही मतों की तीव्र आलोचना करते हैं तथा दार्शनिक रूप में बताते हैं कि जीव के द्वारा किये हुए कर्म जीव को अवश्य भोगने पड़ेंगे। परमात्मा किसी के भी शुभाशुभ कर्मों को क्षमा नहीं करता।[2] दयानन्द के शब्दों में "क्योंकि जो (परमात्मा) पाप क्षमा करे तो उसका न्याय नष्ट हो जाये और सब मनुष्य महापापी हो जायें। क्योंकि क्षमा की बात सुनकर ही उनको पाप करने में निर्भयता और उत्साह हो जाय।"[3] यहाँ स्वामी जी दर्शन के साथ-साथ मनुष्य की इस मानसिक दुर्बलता की ओर भी संकेत करते हैं कि मनुष्य प्रायः वासना तृप्ति की ओर भागते हैं। और जब उनको विश्वास हो जायेगा कि केवल ईमान लाने मात्र से परमात्मा पाप क्षमा कर देता है तब नीति-नियमों का विधान किसके लिये? फिर शक्तिशाली का आदेश ही नीति के नियम रह जायेंगे।

---

१. "पुरुषार्थ प्रारब्ध से बड़ा इसलिये है कि जिससे संचित प्रारब्ध बनते, जिसके सुधारने से सब सुधरते और जिसके बिगाड़ने से सब बिगड़ते हैं, इसी से प्रारब्ध की अपेक्षा पुरुषार्थ बड़ा है।" स्वामी दयानन्द स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश सं० २५।

२. प्रश्न– क्या स्तुति आदि करने से ईश्वर अपना नियम छोड़ स्तुति प्रार्थना करने वाले के पाप छुड़ा देता है। (दया०) उ०—नहीं।' सत्यार्थ प्रकाश, पृ० १७६

३. वही पृ० १६०

माण्डक्योपनिषद् पर गौणपादीय कारिकाओं में एक अन्य प्रकार के कर्म-उच्छेदवाद का विचार पाया जाता है। गौणपाद कहते हैं कि न प्रलय है और न उत्पत्ति, न कोई बद्ध है और न कोई साधक, न कोई मुमुक्षु है और न कोई मुक्त यही परमार्थ सत्य है।[1] इसमें जब कोई बद्ध नहीं है तब फिर किसी के कर्त्ता-भोक्ता होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिये न कर्म है और न कर्मफल। इस तरह का प्रचार करने वाले परमार्थवादियों के लिये सारा का सारा नीति-शास्त्र ही निर्मूल है। इनके विरुद्ध दयानन्द का दृष्टिकोण यथार्थवादी है जिसमें संसार की सत्ता से मुख नहीं मोड़ा जा सकता इसलिए कर्त्ता, कर्म व कर्मफल ये तीनों ही विद्यमान हैं। यही दयानन्द की महान् प्रतिभा है कि उन्होंने परमार्थ और व्यवहार दोनों ही को एक शाश्वत सत्य के रूप में स्वीकार करते हुए भी दर्शन शास्त्र में इनके विरुद्ध उठने वाले समस्त आक्षेपों का अत्यन्त ही तर्कपूर्ण व व्यावहारिक रूप में उत्तर दिया है।

नीतिशास्त्र का आधार तत्त्व शास्त्र

नीतिशास्त्र का विषय मनुष्य के स्वतन्त्र कर्म हैं। इस शास्त्र में इस बात का विवेचन किया जाता है कि कर्म किस प्रकार करने चाहियें? तत्त्वशास्त्र ईश्वर, जीव, प्रकृति इत्यादि विषयों का तात्त्विक विवेचन करता है। परन्तु इन दोनों शास्त्रों में अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। विशेषतः भारतीय दर्शन में इन्हें पृथक नहीं किया गया है। गीता कर्मयोग शास्त्र हैं, परन्तु उसमें भी ईश्वर की सत्ता, जीव की अमरता एवं प्रकृति की सत्ता इत्यादि विषयों का विषद् विवेचन किया है। कान्ट के नीतिशास्त्र का आधार उनकी तीन मान्यतायें—जीव की अमरता, ईश्वर का अस्तित्व तथा कर्म-स्वातन्त्र्य हैं और ये तीनों तत्त्व शास्त्र की समस्यायें हैं। जब नीतिशास्त्र किसी अमुक प्रकार के कर्म को करने को कहता है, तब उस कर्म की उपयोगिता की जाँच कि इस प्रकार के कर्म क्यों किये जायें तथा शुभ एवं पाप शुभ की हमारी अमुक धारणा ही क्यों हो, के लिये प्रायः सभी दार्शनिकों को तत्त्व शास्त्र की शरण में आना पड़ता है। क्योंकि ईश्वर

१. माण्डूक्योपनिषद् पर गौणपादीय कारिका, २–३२

का अस्तित्व, जीव की सत्ता एवं परम शुभ का विचार तत्त्व शास्त्र ही निश्चित करता है। उदाहरण के लिये चारवाक दर्शन में प्रकृति के अतिरिक्त ईश्वर व जीव की कोई सत्ता नहीं है अतः कर्मफल, पुनर्जन्म, मोक्ष इत्यादि का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए चारवाकों ने सीधे-साधे "जब तक जियो सुख से जियो और ऋण लेकर भी त्यौहार मनाओ" का उपदेश किया। इसके ठीक विपरीत जैन दर्शन में दिगम्बर साधुओं को आत्म स्वातन्त्र्य के लिये कर्म-त्याग का ही उपदेश नहीं वरन् वस्त्र धारण को भी परिग्रह की श्रेणी में रख पूर्ण अपरिग्रही बन आत्मशुद्धि का आदेश दिया है। परन्तु साथ ही बिना ईश्वर को फलप्रदाता माने जैन दर्शन में कर्मफल को माना गया है। यह भी तत्त्वशास्त्र में बिना व्यवस्था के नहीं है। जैन दर्शन में अदृष्ट को ही फलप्रदाता मान लिया है स्वामी दयानन्द कर्म व्यवस्था के सम्बन्ध में कि परम शुभ क्या है ? जीवात्मा का क्या उद्देश्य है ? एवं उसे प्राप्त करने के लिये क्या करना चाहिए ? इत्यादि नीति-विषयक सिद्धान्तों का विवेचन विशुद्ध दार्शनिक आधार पर करते हैं।

ब्रह्माद्वैतवादियों की मोक्ष—जो कि परम शुभ है—की आलोचना स्वामी दार्शनिक आधार पर ही करते हैं कि अद्वैतवाद में अन्तःकरणोपाधि से ब्रह्म जीव होता है। इसका तात्पर्य हुआ कि अन्तःकरण जिस-जिस स्थान को जाता है। वहां-वहां का ब्रह्म जीव हो जाता है तथा पूर्व स्थानी ब्रह्म मुक्त होता जाता है। इस तरह से जीव का क्षण-क्षण मोक्ष हो रहा है फिर मोक्ष के लिये प्रयत्न की क्या आवश्यकता है।[1] "ज्ञानन्मुक्ति" अर्थात् सत्य ज्ञान से ही मुक्ति होती है। इस उक्ति में भी यही प्रतिपादित किया गया है कि जीवन के परम शुभ की प्राप्ति करने की इच्छा वाले को सत् ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। परन्तु दृष्टिगोचर होने वाले जगत् में क्या सत् है और क्या असत् इसका निर्णय तो तत्त्वशास्त्र के आश्रय में ही होगा। और यदि कोई हठपूर्वक यह कहे कि हमें तत्त्वशास्त्र से सतासत् का निर्णय करने से क्या तात्पर्य, तो उन लोगों की स्थिति ऐसी समझनी चाहिये जो जीवन के सफर में तो जा रहे हैं परन्तु यह पता नहीं कि कहां और क्यों जा रहे हैं, एवं उनका मार्ग सही भी है या नहीं। मोक्ष के साधन

१. सत्यार्थप्रकाश पृ० १६७

चतुष्टय में स्वामी शंकर ने प्रथम ही सत्य-असत्य वस्तु-विवेक पर बल दिया और दयानन्द के दर्शन में इसे वैराग्य में लिया गया है।[1] और ठीक भी है कि जब हमें यही पता नहीं कि सत्य क्या है, कहीं हमारा स्वयं का अस्तित्व भी हो या न हो ? अथवा हो सकता है कि संसार और हम दोनों ही सत्य हो, इन दोनों अवस्थाओं में हमारी समस्यायें एक दूसरे से नितान्त भिन्न होंगी। बौद्ध दर्शन निरीश्वरवादी व अजीववादी है तथापि कर्मफल व पुनर्जन्म तथा निर्वाण को स्वीकार करता ही है। इसी को देखकर तिलक व राधाकृष्णन् सरीखे विद्वानों को यह संशय हो जाता है कि निर्वाण व पुनर्जन्म आदि को मानने वाला दर्शन क्योंकर उच्छेदवादी हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि नीतिशास्त्र का आधार तत्त्वशास्त्र है और इस रूप में दयानन्द जो बार-बार नैतिक समस्याओं का तात्त्विक विवेचन करते हैं, ठीक ही हैं।

दयानन्द निम्नलिखित तत्त्वों को, तत्त्वशास्त्र से प्रमाणित कर कान्ट की तरह नीति की मान्यताओं के रूप में मानते हैं। केवल अन्तर इतना है कि कान्ट ने तीन मान्यताओं को स्वीकार किया है जबकि दयानन्द के दर्शन में हम इन्हें पाँच रूप में मान सकते हैं।

(१) जीवात्मा अमर है तथा इच्छा, प्रयत्न व ज्ञान उसके स्वाभाविक गुण हैं।

(२) जीवात्मा कर्म करने में स्वतंत्र तथा फल पाने में परतन्त्र है।

(३) जीवात्मा स्वकर्मों से उन्नति व अवनति दोनों ही दिशा में चल सकता है।

(४) जीवात्मा का परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। वही परम शुभ तथा-ब्रह्म साक्षात्कार है।

(५) ईश्वर कर्मफल प्रदाता है।

---

१. वैराग्य अर्थात् जो विवेक से सत्यासत्य को जाना हो उसमें से सत्याचरण का ग्रहण और असत्याचरण का त्याग करना विवेक हैं। जो पृथिवी से लेके परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों के गुण कर्म स्वभाव से जानकर उसकी आज्ञा पालन और उपासना में तत्पर होगा·····विवेक कहलाता है।'

सत्यार्थप्रकाश, पृ० २४९

कान्ट ने कर्मशास्त्र की जो तीन पूर्व मान्यतायें कही हैं, उनसे स्वामी दयानन्द का कोई विरोध नहीं है, वरन् स्वामी जी ने तत्त्वशास्त्र के अनुरूप उन्हें और भी स्पष्ट कर दिया है। परन्तु इनसे यह निर्णय नहीं करना चाहिए कि कान्ट का स्वामी जी पर प्रभाव था। नहीं, बिल्कुल नहीं। स्वामी जी कान्ट को जानते भी न थे। इसके अलावा कान्ट का दर्शन अज्ञेयवाद की दीवार को नहीं भेद सका, इसलिये उन्होंने जीव का स्वरूप, जीव का लक्ष्य एवं परम तत्त्वों का साक्षात्कार इन विषयों को अज्ञेय कहकर इनसे पीछा छुड़ाया। परन्तु दयानन्द तथ्य की पूर्ण गहरायी तक पहुंचे तथा उन्होंने वैदिक ऋषियों की परम्परानुसार ब्रह्म-साक्षात्कार तथा समस्त तत्त्वों को ज्ञेय कहा है। यदि हम सत्य को नहीं जान सकते तब तत्त्व शास्त्र निरर्थक है और मानव प्रयत्न तुच्छ व तथ्यहीन हैं। दयानन्द मानवीय प्रयत्नों की, यदि वे सही दशा में किये जायें, पूर्ण सफलता में विश्वास रखते हैं। नीतिशास्त्र में मानवीय सफलता में विश्वास अत्यन्त आवश्यक है।

परम शुभ अर्थात् मोक्ष परम शुभ है

यदि हमें, हमारे जीवन के समस्त दुःखों का नाश होकर, सदैव रहने वाला आनन्द प्राप्त हो, तब इससे बढ़कर जीवन का क्या उद्देश्य हो सकता है। यद्यपि सुखवादी नीतिशास्त्र भी सुख की प्राप्ति का आदर्श संसार के सामने रखते हैं परन्तु उनका आदर्श शारीरिक एवं वासनात्मक सुख तक ही सीमित है। जबकि शाश्वत आनन्द वासना तृप्ति से प्राप्त होने वाले सुख के त्याग से मिलता है। वासनाओं में लिप्त व्यक्ति इन्द्रियों का दास, विषयों के सम्मुख दीन एवं संकुचित वृत्तिवाला होता है। परन्तु मोक्षरूपी परमानन्द को प्राप्त करने वाला व्यक्ति इन्द्रियों का स्वामी अर्थात् इन्द्र, दृढ़ संकल्प-शक्ति का धनी एवं विशाल हृदय वाला होता है।

स्वामी दयानन्द मानव जीवन के परम शुभ को सदैव रहने वाले परमात्मसुख मोक्ष में ही देखते हैं।

स्वामी जी कहते हैं—

प्र०— (जीव) किससे छूटना चाहते हैं ?

उ०— दयानन्द) – दुःख से।

प्र०— दुःख से छूटकर किसको प्राप्त होते तथा कहाँ रहते हैं ?

उ०— (दयानन्द) "सुख को प्राप्त होते और ब्रह्म में रहते हैं।"[१]

जीव-जगत् के समस्त प्राणी दुःख से छूटने की कोशिश करते हैं और जैसे कि महाभारत कहता है कि प्राणियों की समस्त क्रियायें सुख प्राप्ति के लिये ही होती हैं।[२] सांख्यदर्शनकार महर्षि कपिल अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही यह प्रतिज्ञा करते हैं कि प्राणियों को होने वाले तीन प्रकार के दुःखों से दूर करने के लिये यह शास्त्र निर्मित किया गया है।[३] योग, न्याय, जैन व बौद्ध आदि सब सम्प्रदाय दुःख दूर कर सुख की प्राप्ति करना मानवजीवन का सर्वोच्च पुरुषार्थ कहते हैं। और तो क्या कर्तव्याकर्तव्य के लिये कहने वाले कान्ट भी यही कहते हैं कि इस आदर्श पर चलने वाला व्यक्ति ही वास्तविक अर्थों में सुखी रह सकता है।[४] और यह ठीक ही है। हम मानव स्वभाव की इस वास्तविकता से मुख नहीं मोड़ सकते कि सब प्राणियों की तरह मानव भी दुःख से कतरा कर सुख की खोज करता है। परन्तु इससे सुखवादियों को प्रसन्न नहीं होना चाहिए, क्योंकि प्राणियों द्वारा सुख की खोज का स्वाभाविक होना मनुष्यों को आवश्यक रूप से ऐपिक्यूरियनों या चारवाकों की तरह सुखवादी बनाना नहीं है। स्थूल रूप से सुख का विवेचन करने वाले चारवाक मानव स्वभाव की अपरिमित सुखाभिलाषा की गहराई तक नहीं पहुँचते वरन् उनका लक्ष्य केवल वासनात्मक अबौद्धिक व सहज में प्राप्त होने वाला ऐन्द्रिक सुख ही है। उनके मत में यही सुख मानवीय पुरुषार्थ का परम फल है। सुखवादी मनोविज्ञान के इस तथ्य को भूल जाते हैं कि भोगेच्छा भोगने

१— सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २४१

२— दुःखाद्बुद्विजते सर्व सर्वस्य सुखममीप्सितम्। महाभारत शान्ति १३९-१६

३— अथ त्रिविध दुखात्यन्त निवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थः। सांख्यसूत्र १।१

४— "Further Kant considers that though the virtuous man does not aim at happiness, yet the complete well being of a human being includes happiness as well virtue".

A Manual of Ethics P. 192 by J. S. Mackenjie, VI Ed. 1929.

से अधिक बलवती होती है, जो प्राणियों को निरन्तर भोगों में प्रवृत रखती है और अन्त में जीर्ण-शीर्ण अवस्था में प्राणी शक्तिहीन हुआ भी भोगों को अत्यन्त कातर व दीन दृष्टि से देखता ही रहता है। जैसा कि महाराज भर्तृहरि कहते हैं कि भोगों को भोगने में प्राणी वास्तव में भोगों को नहीं भोगता, वरन् स्वयं भोगों द्वारा भोग लिया जाता है।[1] स्वामी दयानन्द सुखवादियों द्वारा प्रतिपादित भोगवाद को अत्यन्त तुच्छ एवं मूर्खतापूर्ण मानते हैं[2] जिसमें कोई भी बुद्धियान व्यक्ति फंसना पसन्द नहीं करेगा।

इसके अलावा कुछ विद्वान् अधिक व्यक्तियों के अधिक सुख का विचार कर्मशास्त्र में रखते हैं। उनका कहना है कि सुख प्राप्त करना मनुष्य का उद्देश्य है, परन्तु हमें सदैव उस सुख को प्राथमिकता देनी चाहिए जिसमें अधिक लोगों का अधिक सुख निहित हो। यह सिद्धान्त मानव जीवन के परम शुभ के रूप में सुखवादियों से कुछ अच्छा अवश्य प्रतीत होता है, परन्तु है यह भी स्वार्थ पर आधारित। इसके अतिरिक्त यह नीतिशास्त्र के स्थान पर सामाजिक संगठन के सिद्धान्त के रूप में अधिक उपयुक्त है। यद्यपि यहाँ भी यह सार्वभौम नियम नहीं बन सकता। क्योंकि यह हो सकता है कि अधिक लोग किसी ऐसी बात के पक्ष में हों जो अन्यायपूर्ण हो और अल्पसंख्यक न्यायपूर्ण हों तब क्या यहाँ पर यह नियम खरा उतरेगा? मानव जीवन के परम शुभ के रूप में हमें मनुष्य के जीवन के हर पहलू से विचार करना पड़ेगा। जीवन के किसी भाग को छोड़ा नहीं जा सकता।

बुद्धिमान व्यक्ति हर वस्तु या सिद्धान्त की उपयोगिता का निर्णय करते समय उसकी भली प्रकार जाँच कर लेता है और फिर उसको जीवन में यथायोग्य स्थान पर लागू करता है। दुःखों को दूर करना जीवन का उद्देश्य है, परन्तु क्षणिक सुख के मुकाबले सदैव बना रहने वाला सुख

१— 'भोगानभुक्ता वयमेव भुक्ता-स्तपो न तप्तं वयमेव तप्तं। कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णः। वैराग्य शतकम् ।१२।

२. 'विषय रूपी सुख -मात्र को पुरुषार्थ का फल मानकर विषय दुःख निवारण मात्र में कृतकृत्यता और स्वर्ग मानना मूर्खता है।'

निश्चय ही उत्तम है। शाश्वत सुख की प्राप्ति के लिये यदि वासना-तृप्ति से उत्पन्न क्षणिक सुख का त्याग करना भी पड़े तो भी क्या है। उच्च कोटि के उदात्त सुखवादी क्षणिक सुख से कुछ देर रहने वाले सुख को अच्छा समझते है और कुछ देर वाले सुख से अधिक देर तक रहने वाले सुख को। लेकिन दयानन्द तो ऐसे सुख की बात करते हैं जो सदैव रहने वाला है। दूसरी तरफ स्थूल सुखवादी हो या उदात्त सुखवादी दोनों का सुख इन्द्रिय सुख है। किन्तु दयानन्द उस सुख को मानव जीवन का उद्देश्य कहते हैं जो इन्द्रियों के क्षेत्र व विषय से बाहर है। अतीन्द्रिय होने से यह सुख न रहकर आनन्द की संज्ञा धारण कर लेता है। जैसा कि उपनिषद् कहता है कि वह, वो स्थान है जहाँ वाणी भी नहीं जा सकती, जहां चक्षु इत्यादि किसी शारीरिक व मानसिक इन्द्रियों का प्रवेश नहीं है। वह ऐसा इद्रियातीत सुख है। शास्त्रों में इसकी संज्ञा आनन्द है। उस आनन्द का वर्णन वाणी नहीं कर सकती क्योंकि उस आनन्द को जीवात्मा अपने अन्तःकरण में ग्रहण करता है।[1] स्वामी जी कहते हैं कि इस अवस्था में जीवात्मा का परमात्मा से साक्षात्कार हो जाता है और मर्त्य अमृतमय हो जाता है। यही मोक्ष की अवस्था है। यहाँ जीवात्मा अपनी संकल्प शक्ति से ही आनन्द का भोग करता है।

आत्म-साक्षात्कारवादी नीतिशास्त्री सुख से अतिरिक्त आत्मा की शक्तियों अर्थात् व्यक्तिगत शक्ति व सामाजिक शक्तियों के साक्षात्कार को आत्मा का परम लक्ष्य मानते हैं। अर्बन मूल्यों के सिद्धान्त का निरूपण भी आत्म-साक्षात्कार में करते हैं कि शारीरिक, सामाजिक व आध्यात्मिक मूल्यों का समन्वय एवं उनका सम्यक् प्रकार धारण करना ही आत्म-साक्षात्कार है। लेकिन इन लेखकों ने आत्म-साक्षात्कार को मानव जीवन में एक अच्छे सामाजिक इन्सान के सफल व्यवहार मे अधिक कुछ नहीं समझा। क्योंकि जब तक आत्मा का स्वरूप व इस संसार में उसका उद्देश्य नहीं समझा जायेगा तब तक हम आत्म-साक्षात्कार से कुछ नहीं समझ सकते। जीवन का परम शुभ समझने के लिए हमें पहले तत्त्वज्ञान प्राप्त करना होगा फिर

---

१. 'न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयन्तदन्तःकरणेन गृह्यते'।
सत्यार्थ प्र०, पृ० १८४

हम जान सकते हैं कि जीवन वास्तव में किसलिए बना है। पाश्चात्य आत्म-साक्षात्कारवादी अभी इस स्तर पर नहीं गये हैं। किन्तु दयानन्द अन्य वैदिक दार्शनिकों के ही समान मुक्ति या परमानन्द अर्थात् प्रकृति के गुण बंधनों से मुक्ति प्राप्त कर परमात्मा के आनन्द को प्राप्त करना ही जीवन का वास्तविक उद्देश्य बताते हैं।

आत्म-साक्षात्कारवादियों के विरुद्ध प्रायः यह आरोप लगाया जाता है कि यह मत केवल अपनी ही उन्नति में संतुष्ट रहने वाले विचारकों का है। इससे यह भी स्वार्थपरता का एक उदात्त उदाहरण है। यह आरोप यूरोप के किन-किन विचारकों के विरुद्ध ठीक बैठता है इस पर हम यहां विचार नहीं करेंगे। परन्तु स्वामी दयानन्द व वैदिक विचारकों के आत्म-साक्षात्कारवाद के विरुद्ध तो यह बिल्कुल नहीं लगता। क्योंकि आध्यात्मिक उन्नति में किसी से किसी का कोई विरोध नहीं हो सकता और न ही यह बाँटी जा सकती है जिससे कम होने का भय हो। तथा प्रत्येक आध्यात्मिक पुरुष सत्य को जानने के बाद परोपकार के लिए स्वभाव से ही उद्यत होता है। और फिर स्वामी दयानन्द तो स्पष्ट कहते हैं कि "प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से संतुष्ट नहीं रहना चाहिए किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।"[1] इससे हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि दयानन्द द्वारा वर्णित मानव जीवन का ध्येय ही नीतिशास्त्र में निरापद है जो कि वेद, उपनिषद् व सर्वशास्त्र सम्मत है तथा जिसमें एक स्वस्थ समाज को बनाने की क्षमता के साथ-साथ परम सत्य को प्राप्त करने का विधान भी है। इस दर्शन में परम शुभ और परम सत्य एक ही है जो कि प्राणीमात्र का परम शिव (Highest Good) है।

जीवात्मा का दुःखों से छुटकारा बिना सत्यज्ञान के नहीं हो सकता। अविद्या के कारण जीव विषय-वासनाओं की तृप्ति से प्राप्त होने वाले सुख को ही जीवन का परम पुरुषार्थ समझ लेता है। इसलिए अविद्या के क्षय एवं सत्य के ज्ञान, जिसमें परमात्मा का ज्ञान भी संयुक्त है, से ही मुक्ति अर्थात् दुःखों से छुटकारा प्राप्त होता है। शरीरजन्य सुखों की अनित्यता ज्ञान से ही

१. आर्य समाज का नवां नियम, दयानन्द द्वारा निर्मित।

जानी जाती है। इस प्रकार दयानन्द मानव जीवन के परम शुभ के विषय में स्पष्टतया उपनिषदों से सहमति रखते हैं, तथा उपनिषदों के मंत्रों के हवाले से कहते हैं कि 'जब जीव की अविद्यादि बन्धन की गांठें छिन्न-भिन्न होके टूट जाती हैं तभी वह मुक्ति को प्राप्त होता है" तथा ब्रह्म जो सर्वत्र व्यापक हो रहा है वही मोक्षपद कहाता है और मुक्त पुरुष उसी मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

सुखवाद-तपश्चर्यावाद व कर्म-सन्यास-मार्ग

सुखवादी बुद्धि को इन्द्रियों के सुख प्राप्त करने में सहायक मानते हैं। चारवाकों से भी गया बीता तथा इन्द्रिय सुख को ही प्रधान मानने वाला एक वाममार्गी सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदाय के अनुसार मद्य, मांस, मीन, मुद्रा व मैथुन इन पांच मकारों के सेवन से मुक्ति कही गई है। कुछ विद्वान् इन पांच मकारों के आध्यात्मिक व मनोवैज्ञानिक अर्थ करते हैं परन्तु वे उनके ग्रन्थों में वर्णित उन प्रकरणों की, जिनमें स्पष्टतः वाममार्ग है, क्या व्याख्या करेंगे? यह समझ में नहीं आता। ऐसा ही एक सम्प्रदाय कुलार्णव तन्त्र में दिया हुआ है कि भैरवी चक्र के प्रवृत्त होने पर सब व्यक्ति एक वर्णस्थ हो जाते है फिर माता को छोड़कर कन्या, बहिन व पत्नि सभी रमण के योग्य हैं। अत्यधिक मद्यपान करने वाले का पुनर्जन्म नहीं होता।[1] स्वामी दयानन्द ने ऐसे सम्प्रदायों की अपने सत्यार्थ प्रकाश में कड़ी भर्त्सना की है। एक बार केवल इन्द्रिय-सुख को सब कुछ मान लेने पर फिर सामाजिक व्यवस्था को नष्ट करने वाले ऐसे वाममार्गीयों से बचना असम्भव है।

सुखवाद के दूसरी तरफ तपश्चर्यावाद का कठिन मार्ग है कि हर कीमत पर धर्म का आचरण करो और इसके लिए हर प्रकार के कष्ट सहने के लिये तैयार रहा। यहां तक तो इसमें कठोरता की बू नहीं आती परन्तु ये लोग बुद्धि की श्रेष्ठता के पीछे इन्द्रियों को पशु-जीवन का चिन्ह बताकर उसके दमन पर बल देते हैं। स्वामी जी इन्द्रियों के शक्तिपूर्वक दमन को

१. (i) 'पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत्पतति भूतले। पुनरुत्थायवं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते।' (१) कुलार्णव तन्त्र ७।१००

(ii) 'मातृयोनिं परित्यज्य विहरेत् सर्वयोनिषु।' महानिर्माण तन्त्र।

नहीं मानते। उनका कहना तो यह है कि शरीर को उत्तम पौष्टिक भोजन से स्वस्थ रखना चाहिये और ऐसा व्यवहार करना चाहिये जिससे आरोग्य बढ़े। वे इस बात को जानते थे कि इन्द्रियों के वेग को और विशेषतः काम के वेग को रोकना बड़ा कठिन कार्य है।[1] इसलिए युवावस्था में भोग प्राप्ति के लिए गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का आदेश देते हैं। उनका यह निश्चित मत है कि गृहस्थ में रहने वाला व्यक्ति अपनी ही माया से ऋतुगामी होकर सन्तुष्ट होवे, इस प्रकार वह ज्ञान-विज्ञान को बढ़ाकर मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

परन्तु गृहस्थ जीवन का अर्थ असंयत जीवन नहीं है। संयम और दमन इनमें काफी अन्तर है। दमन किसी शक्ति की वास्तविकता से मुख मोड़ना है जबकि संयम उस पर विजय प्राप्त करना है। दमन बुद्धिहीन क्रिया है परन्तु संयम बौद्धिक है। संयत जीवन संसार के हर रहस्य को समझने की शक्ति रखता है। चक्रांकित वैष्णवों का विश्वास है शरीर पर विष्णु आदि की मूर्ति आग में तपाकर अंकित करने से विष्णु लोक प्राप्त हो जाता है। कुछ व्यक्तियों का विचार है कि विभिन्न तीर्थ करने से छुटकारा मिल जाता है, गंगा इत्यादि नदियों में स्नान करने से अपनी ही नहीं वरन पूर्वजों की भी मुक्ति हो जाती है। हिन्दू स्त्रियों में प्रचलित विश्वास है कि मुख्य तिथियों एवं पर्वों पर व्रत रखने से सब कामनायें पूर्ण होती हैं। तथा मीमांसकों का मत है कि वैदिक विधि-विधानों से यज्ञ करने से स्वर्ग की प्राप्ति हो जाती है। स्वामी जी शरीर को सुखाने वाले साधनों से मुक्ति को नहीं मानते। होम करना स्वामी जी के विचार से शुभ कार्य हैं क्योंकि इससे वायुमण्डल शुद्ध होकर आरोग्य बढ़ता है, परन्तु केवल यज्ञ करने से मुक्ति प्राप्त होती है, इसे वे नहीं मानते। काम्य कर्म चाहे वे स्वर्ग की प्राप्ति के लिए किए गए हों उनका कर्मफल तो भोगना ही पड़ेगा और उनके लिये जन्म-धारण करना पड़ेगा। इसलिए मीमांसकों द्वारा फल की भावना से किए गये कर्म मोक्ष के देने वाले नहीं हो सकते इसके अतिरिक्त विधि-विधानों द्वारा किए गये यज्ञ से पापों के क्षय की भावना से अधर्म को बढ़ावा मिलेगा क्योंकि हर कोई जो यज्ञ करने व करवाने में समर्थ होगा, इसलिये पाप-

१. बृहद सत्यार्थप्रकाश, पृ० ४८

कृत्य करेगा कि यज्ञों द्वारा उनके प्रभाव को नष्ट किया जा सकता है। इस पर प्रश्न उठता है कि तो फिर क्या कर्म छोड़ दिये जायें। परन्तु यह बिल्कुल असम्भव है क्योंकि कोई भी पुरुष एक क्षण भी कर्म किए बिना नहीं रह सकता। और तो क्या पलकों को उठाना व गिराना भी तो कर्म ही है। यही नहीं बल्कि स्वभाव से होने वाले इन कर्मों का भी कोई उद्देश्य होता है यथा चक्षुओं पर किसी सम्भावित विपत्ति आने पर पलक स्वयमेव झुक जाती हैं। इसी प्रकार मनुष्य के सब कर्म चाहे नित्य कर्म हों या विशिष्ट सबके पीछे आवश्यकता अर्थात् उनसे उत्पन्न शुभ फल की कामना होती है। दयानन्द कर्मों में निहित उस मनोवैज्ञानिक तथ्य व मनु के श्लोक के हवाले से स्वीकार करते हुये कहते हैं कि "निष्काम पुरुष में नेत्र का संकोच-विकाश का होना भी सर्वथा असम्भव है, इससे यह सिद्ध होता है कि जो कुछ भी (कोई) करता है वह चेष्टा कामना के बिना नहीं है।"[1] फिर कर्मों का पूर्ण सन्यास सम्भव हो यह मुमकिन नहीं। कर्म आवश्यक हैं और इनसे छूटा नहीं जा सकता। इससे दयानन्द मनुष्यमात्र को उपदेश करते हैं कि मनुष्य सौ वर्ष पर्यन्त अर्थात् जब तक जीवे तब तक कर्म करता हुआ जीने की इच्छा करे, आलसी कभी न बैठे। तथा कर्म कर्मफल की भावना को त्यागकर करे।

कर्म व ज्ञान समन्वय

गीता में मोक्ष प्राप्ति के दो मुख्य साधन सांख्ययोग व कर्मयोग का वर्णन है कि ये दोनों ही मार्ग एक ही लक्ष्य तक पहुंचाते हैं चाहे इनमें से किसी का भी पालन कर लिया जाय। परन्तु एक गृहस्थी के लिये कर्म छोड़ कर जंगल में निष्कर्म बैठ ज्ञान-मार्ग का अवलम्बन करना नितान्त असम्भव है इसलिए गीता में कर्मयोग के मार्ग को ही श्रेष्ठ बताया है, परन्तु ज्ञान का कर्म में नितान्त अभाव नहीं। स्वयं श्री कृष्ण ने कर्मयोग के महत्व को समझाते हुए तत्वशास्त्र का ज्ञानपूर्वक विवेचन किया है कि जीव अमर है प्रकृति के गुण हमारे लिए बन्धनकारी हैं अतएव त्रिगुणातीत होकर फलाशा का

१. अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्। यद्यपि कुरुते किंचित तत्तत्कामस्य चेष्टम्। (मनु० २–४) सत्यार्थप्रकाश पृ० ४७

त्याग करने से कर्मों में बन्धन पैदा करने की शक्ति नष्ट हो जाती है। बिना ज्ञान के कर्मयोग का अवलम्बन नहीं किया जा सकता। एक अज्ञानी के मस्तिष्क में कर्मयोग की उपयोगिता कभी नहीं बिठाई जा सकती है। फिर वह उस पर आचरण ही क्या करेगा। स्वामी दयानन्द ज्ञान और कर्म दोनों को ही आवश्यक समझते हैं।[1] उपनिषद, सांख्य व अन्य दर्शनों का भीय ही मत है कि ज्ञान के बिना मुक्ति सम्भव नहीं।[2] और जिसे बौद्ध व जैन सम्प्रदाओं ने भी यथावत् स्वीकार किया है। यहाँ ज्ञान का अर्थ है तत्वों का सम्यक ज्ञान तथा सृष्टि विद्या एवं सृष्टि के पदार्थों का यथावत ज्ञान।[3] तत्व ज्ञान होने पर जीवात्मा सुख-दुःख आदि विकारों की वास्तविकता जानकर उनकी अनित्यता व तुच्छता का ज्ञान कर लेता है। उस अवस्था में उसके कर्म स्वार्थ बुद्धि से उत्पन्न काम्य कर्म नहीं होते वरन् लोकोपकार के निमित्त कर्त्तव्य समझकर किये गये कर्म होते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इन कर्मों का भी कोई लक्ष्य होता है परन्तु लक्ष्यों की प्राप्ति अथवा अप्राप्ति इन दोनों पर ही योगी समबुद्धि रहता है। यही कर्मयोग है। इस मार्ग का पालन स्वार्थ बुद्धि को जीतने वाला जितेन्द्रिय पुरुष ही कर सकता है। जितेन्द्रियता का अर्थ स्वामी दयानन्द की भाषा में केवल इन्द्रियों का संयम ही नहीं वरन् मन का भी संयम है। मन के संयम के बिना इन्द्रियें काबू में नहीं आ सकतीं। दयानन्द कहते हैं "जितेन्द्रिय उसको कहते हैं जो स्तुति सुन के हर्ष और निन्दा सुन के शोक, अच्छा स्पर्श करके सुख और दुष्ट स्पर्श से दुख, सुन्दर रूप देख के प्रसन्न और दुष्ट रूप देख के अप्रसन्न उत्तम भोजन करके आनन्दित और निकृष्ट भोजन करके दुखित, सुगन्ध में रुचि और दुर्गन्ध में अरुचि नहीं करता।[4] स्वामी दयानन्द के जितेन्द्रिय पुरुष व गीता के ससबुद्धि में कोई भेद नहीं है। कर्मों के रहस्य को बुद्धि से जानने वाला तथा ज्ञानपूर्वक कर्मों

१. "जो मनुष्य विद्या और अविद्या के स्वरूप को साथ-साथ जानता है वह विद्या अर्थात् कार्योपासना से मृत्यु को तर के विद्या अर्थात् यथार्थ ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है।' सत्यार्थप्रकाश पृ० २३६

२. 'ज्ञानान्मुक्ति।' सांख्य सूत्र ३–२३

३. 'यथार्थ दर्शनं ज्ञानमिति।' सत्यार्थप्रकाश पृ० १८६

४. सत्यार्थप्रकाश, पृ० २६६–२६७

का आचरण करने वाला ही वेदों में विद्या व अविद्या दोनों का अधिकारी कहा गया है। स्वामी जी कहते हैं कि "जो मनुष्य विद्या और अविद्या के स्वरूप को साथ-साथ जानता है वह विद्या अर्थात् कार्मोपासना से मृत्यु को तरके विद्या अर्थात् ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है।'

नैतिक धर्म (*Moral Virtues*)

वही नीतिशास्त्र सफल नीतिशास्त्र कहा जा सकता है जो मानव जीवन के सांसारिक व अध्यात्मिक दोनों पहलुओं का विवेचन करता हो। स्वामी दयानन्द अपने दर्शन में मायावाद के विरुद्ध जगत की सत्यता को स्वीकार करते हैं इसी प्रकार उन्होंने अपने नीतिशास्त्र में सांसारिक जीवन यथावत् समझा है। उनका उद्देश्य था कि मनुष्य सांसारिक उन्नति भी करे और पारलोकिक जीवन को भी सुधारे। इन्हीं को अभ्युदय और निःश्रेयस कहा है। वैशेषिक दर्शन अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों की सम्यक् प्राप्ति को धर्म कहता है।[२] स्वामी जी वैशेषिक धर्म की इस परिभाषा को पूर्णतः मानते हैं। उनका कहना है कि जिन कर्मों के आचरण से इच्छित सम्यक् सांसारिक सुख एवं जिनसे मोक्षरूपी पारमार्थिक सुख प्राप्त हो उसे ही धर्म मानना चाहिये, इसके विपरीत आचरण अधर्म है।[3]

चार लक्षण वाला धर्म — लेकिन धर्म का उपरोक्त प्रकार से वर्णन वर्णन कर देने मात्र से नीतिशास्त्र से छुटकारा नहीं मिल सकता क्योंकि शास्त्र में उन आचरणों का प्रतिपादन होना चाहिये जो अभ्युदय और निःश्रेयस को प्राप्त करा देने की सामर्थ्य रखते हों। मनुस्मृति से सहमत होकर स्वामी जी धर्म के चार लक्षण बताते हैं "(पहला) वेद (दूसरा) स्मृति, वेदानुकूल आप्तोक्त मनुस्मृत्यादि शास्त्र, (तीसरा) सत्पुरुषों का आचार जो सनातन अर्थात् वेद द्वारा परमेश्वर प्रतिपादित कर्म और (चौथा) अपने आत्मा में

---

१. सत्यार्थप्रकाश पृ० २३७

२. यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिःस धर्मः। वै० १। १। २

३. "यस्याचरणादभ्युदयः सांसारिकमिष्ट सुखं सम्यक् प्राप्तं भवति, येन निःश्रेयसं पारमार्थिक मोक्ष सुखं च, स एव धर्मो विज्ञेयः। अतो विपरीतोऽधर्मश्च"। दयानन्द ग्रथन्माला भाग१, पृ० ३९९

प्रिय अर्थात् जिसको आत्मा चाहता हो जैसा कि सत्य भाषण, ये चार धर्म के लक्षण हैं।"[1] स्वामी दयानन्द के लिये वेद परमेश्वर प्रदत्त उच्चतम सदाचार व विद्या के ग्रन्थ हैं इसलिये इनमें वर्णित आचार धर्म दयानन्द के नीतिशास्त्र में सर्वोपरि हैं। दयानन्द द्वारा मान्य वेदों में नीति धर्म व आचारशास्त्र के नियमों को खोजने के लिये हमें महीधर व उव्वट अथवा मैक्समूलर इत्यादि के भाष्यों को अपना मार्ग-दर्शक नहीं बनाना चाहिये। वेद में उच्च कोटि के आचारशास्त्र के नियम, प्राचीन ऋषियों व उनकी प्रणाली का अनुसरण करने वाले दयानन्द की व्याख्या में ही मिल सकते हैं। दयानन्द के लिये मनुस्मृति के कुछ प्रक्षिप्त श्लोकों को छोड़कर जो वेदों व सत्य के विपरीत हैं बाकी सब आचार-शास्त्र में प्रमाण हैं। इसके अलावा सत्पुरुषों के आचरण पर चलना जैसा कि वे धर्म के सम्बन्ध में बर्तते हैं तथा सबसे अधिक आत्मा के अनुकूल आचरण करना ही सदाचार के लक्षण है। मनुष्य का आत्मा असत्य व्यवहार करते हुए हिचकिचाता है।[2] यदि मनुष्य स्वार्थ का परित्याग कर आत्मा के आदेशों के अनुकूल चले तब वह शायद ही गलत मार्ग पर चले। इसी प्रकार काँट भी हमें शुद्धबुद्धि की शरण में जाने का आदेश देते हैं। काँट की शुद्धबुद्धि स्वार्थरहित बुद्धि है और यही उनके नीतिशास्त्र का आधार है। परन्तु दयानन्द ने आत्माचरण अर्थात् शुद्धबुद्धि के अतिरिक्त धर्म के तीन अन्य लक्षण भी किये हैं, जिससे व्यक्ति यदि कहीं भी भ्रमित हो तो उसे सही मार्ग का सरलता से पता चल जाय।

ग्यारह नैतिक धर्म (Moral Virtues)—यद्यपि सत्य व्यवहार स्वामी दयानन्द के कर्मशास्त्र में मुख्य धर्म कहा गया है तथापि मनु के दस लक्षणों में अहिंसा और संयुक्त करके दयानन्द धर्म के ग्यारह लक्षण बताते हैं।

---

१. सत्यार्थप्रकाश पृ० ४८ व मनु० २।१२

२. "मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य का जानने वाला है। तथापि अपने प्रयोजन की सिद्धि हठ, दुराग्रह और अविद्यादि दोषों से सत्य को छोड़के असत्य में एक झुक जाता है।" सत्यार्थप्रकाश की भूमिका, पृ० २।

(१) अहिंसा—किसी से बैर बुद्धि करके उसके अनिष्ट करने में कभी न बर्तना।

(२) धृति - सुख-दुःख हानि-लाभ में भी व्याकुल होकर धर्म को न छोड़ना, किन्तु धैर्य से स्थिर रहना।

(३) क्षमा—निन्दा, स्तुति, मानापमान का सहन करके धर्म ही करना।

(४) दमः—मन को अधर्म से हटाकर धर्म ही में प्रवृत रखना।

(५) अस्तेयम्—मनः कर्म, बचन से अन्याय और अधर्म से पराये द्रव्य का स्वीकार न करना।

(६) शौचम्—रागद्वेषादि के त्याग से आत्मा और मन को पवित्र औरजलादि से शरीर को शुद्ध रखना।

(७) इन्द्रियनिग्रह—श्रोत्रादि बाह्य इन्द्रियों को अधर्म से हटा कर धर्म ही में चलाना।

(८) धीः—वेदादि सत्य विद्या, ब्रह्मचर्य, सत्संग करने, कुसंग, दुर्व्यसन, मद्यपानादि त्याग से बुद्धि को सदा बढ़ाते रहना।

(९) विद्या—जिससे भूमि से लेके परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों का यथार्थ बोध होता है उस विद्या को प्राप्त करना।

(१०) सत्यम्—सत्य मानना, सत्य बोलना, सत्य करना।

(११) अक्रोध—क्रोधादि दोषों को छोड़कर शान्त्यादि गुणों का ग्रहण करना धर्म कहाता है।[1]

"सत्य" मुख्य धर्म (Cardinal Vtrtue) है—इनके विपरीत आचरण अनाचार व अधम है जो जीवात्मा को दुःखादि के बन्धन में ले जाता है। उपरोक्त धर्मों में भी स्वामी जी सत्याचरण को मुख्य धर्म (Cardinal Virtue) मानते हैं। मन, बचन व कर्म से सत्य का पालन करना सबका वास्तविक धर्म है। मुण्डकोपनिषद् कहता है कि 'सत्य के पालन तप व ब्रह्मचर्य से आत्मा परमात्मा को जान लेता है।[2] 'सत्य ही से विजय मिलती है असत्य से नहीं।"[3] स्वामी जी कहते हैं कि "ऋत" भी इसी का नाम है

१. दयानन्द ग्रन्थमाला, शताब्दी संस्करण, भाग २ पृ० २१०-२११

२. मु० उ० ३-१-५ ३. वही ३-१-६

तथा "सत्य भाषण और आचरण से उत्तम धर्म का लक्षण कोई नहीं है।"[1] सत्पुरुषों में वह सत्य ही है जो उन्हें प्रकाशित करता है।

मनु के द्वारा वर्णित धर्म के दस लक्षण, देशकाल, जाति वा सम्प्रदाय से परे हैं। हर जाति व धर्म तथा सब काल व देश में इनका व्यवहार विवाद से मुक्त है। स्वामी जी ने इसमें अहिंसा को बढ़ा दिया है। मनु का क्षमा से शायद अहिंसा से तात्पर्य हो परन्तु दयानन्द वैर-बुद्धि को जड़मूल से छोड़ना एक धार्मिक पुरुष के लिये अत्यावश्यक समझते थे, इसलिये उन्होंने इसे ग्यारहवां लक्षण बना दिया।

स्वामी दयानन्द ने एक सफल जीवन के लिये ब्रह्मचर्य की आवश्यकता पर अपने से पूर्व किसी भी सुधारक से अधिक बल दिया है। मन, वचन और कर्म से शरीर की वीर्य-शक्ति का ह्रास न होने देना ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य के बिना शरीर की शक्तियों का क्षय होने लगता है ऐसी अवस्था में मनुष्य परम पुरुषार्थ किस प्रकार कर सकता है? स्वामी दयानन्द मानव मनोविज्ञान को भली-भांति समझते थे कि युवावस्था में "काम के वेग को थाम के इन्द्रियों को वश में रखना"[2] अत्यन्त कठिन कार्य है। वे युवावस्था में विवाह का आदेश देते हैं। परन्तु गृहस्थ में संयत जीवन व्यतीत करना चाहिये। केवल ऋतुकाल में स्त्री-संग करना चाहिये। ऐसा व्यक्ति "जो अपनी पत्नि से प्रसन्न और ऋतुगामी होता है वह गृहस्थ भी ब्रह्मचारी के सदृश है"[3] पुरुषों एवं स्त्रियों दोनों को यौन सम्बन्धों की पवित्रता बराबर बनाये रखनी चाहिये।

स्वामी दयानन्द जिस नैतिक आदर्श का स्वरूप हमारे सामने रखते हैं वह सर्वथा दोषरहित होने से माननीय है। वेदों को धर्म का स्रोत कहने से उनका तात्पर्य यह है कि वेद सदाचार के ग्रन्थ हैं। श्री अरविन्द के विचार से वेदों में मानव जीवन में होने वाले द्वन्द एवं उनसे बचने का मार्ग अंकित है। इस पर भी दयानन्द के लिये सदाचारी पुरुष चाहे किसी भी

१. दयानन्द ग्रंथमाला भाग २, पृ० ३९६
२. सत्यार्थ प्रकाश पृ० ४१
३. वही पृ० ९१

धर्म के क्यों न हों वन्दनीय हैं। सत्य ही धर्म है इस रूप में दयानन्द का नैतिक धर्म सार्वभौम है इसका किसी से विरोध नहीं हो सकता।

कर्म-द्विविधा (*Casuistry*)

नैतिक नियमों का पालन करते-करते प्रायः दैनिक व्यवहार में ऐसे प्रसंग आ उपस्थित होते हैं जिनमें यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि ऐसे समय में दो धर्मों के बीच वैषम्य उपस्थित होने पर क्या करना चाहिये। उदाहरणार्थ, देश पर हुए आक्रमण के समय क्या अहिंसा का सहारा लेकर शत्रु द्वारा शान्त व निरीह व्यक्तियों को पद-दलित हो जाने दें या अहिंसा को एक तरफ रख शस्त्र उठाकर शत्रु का हनन करना चाहिये। "क्या करने योग्य है और क्या नहीं करने योग्य है इस विषय में विद्वान् पुरुष भी संशय में पड़ जाते हैं।"[1] गीता के इस श्लोक में नीतिशास्त्र की इसी समस्या की ओर इशारा किया है। ऐसे अवसरों पर बड़े-बड़े विद्वान् भी यह निर्णय नहीं कर पाते कि ऐसे समय में क्या किया जाये। संसार में सत्य, अहिंसा अस्तेय, अपरिग्रह व ब्रह्मचर्य को योगशास्त्र ने सार्वभौम महाव्रत कहा है। और इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। इन व्रतों का उल्लंघन करने वाले भी सार्वजनिक जीवन में इनकी महत्ता पर बल देते ही हैं, उदाहरण के लिए अन्यों व स्वयं के लिये झूँठ बोलने वाला वकील कभी यह नहीं चाहेगा कि उसका पुत्र या मुवक्किल उससे झूंठ बोले। इसी प्रकार अन्य महाव्रतों के विषय में है। परन्तु इनमें से एक भी ऐसा नहीं है कि जिसके पालन में कभी न कभी अपवाद न आ जाये। कल्पना कीजिये कि कुछ निर्दोष सज्जन व्यक्ति दुष्टों द्वारा पीछा किये जाने पर आपके सामने आकर किसी स्थान पर छिप गये, उनके पीछे ही दुष्ट पुरुष आकर आपसे पूछते हैं कि वे व्यक्ति कहां हैं तब आपका क्या कर्त्तव्य होगा? क्या आप सत्य का पालन कर छिपे हुए मनुष्यों को बताकर उन दुष्टों द्वारा उनको मरवा दोगे अथवा असत्य बोलकर दुष्टों को बहका कर उनकी जान बचाना अपना धर्म समझोगे? इसी प्रकार के प्रसंग अहिंसा में उपस्थित हो सकते हैं। महात्मा गांधी इस युग के बहुत बड़े अहिंसा के पुजारी थे। परन्तु कश्मीर पर आक्रमण के समय उन्होंने कश्मीर की रक्षा के लिये भारतीय सैनिकों को कश्मीर भेजने का परामर्श दिया था। स्वयं स्वामी

---

१. भगवद्गीता, ४–१६

दयानन्द इन पाँचों महाव्रतों को जीवन के लिये आवश्यक ही नहीं वरन अनावश्यक बताते हैं। परन्तु राजधर्म में देश पर हुए आक्रमण के समय या दुष्ट पुरुषों से निबटने के लिए शस्त्र व शौर्य का सहारा लेते हैं।

हम देखते हैं कि महापुरुष भी इन महाव्रतों के अपवादों को स्वीकार करते हैं। परन्तु अपवादों की आड़ में स्वार्थ व लम्पटता को कभी भी उचित नहीं ठहराते। स्वामी दयानन्द एक व्यावहारिक समाज सुधारक व नीतिशास्त्री थे। इससे उनके सम्मुख दो प्रश्न सदैव रहते थे कि हमारा नीतिशास्त्र इस प्रकार हो कि उसके नियमों पर चल कर व्यक्ति अपने परम लक्ष्य को प्राप्त कर सके तथा दूसरे, समाज के किसी भी शुभ व्यवहार में अड़चन न पड़े। कर्म-द्विविषा मस दूसरे प्रश्न के अन्तर्गत आती है। लेकिन समाज के समस्त व्यवहारों का उद्देश्य भी एक सफल आध्यात्मिक जीवन है इससे अपवादों के साथ हमारा व्यवहार इस प्रकार का हो कि जिससे यह हमारे अन्त करण को दूषित न करे। पिता अपने पुत्र पर हाथ उठाता है, अपने पुत्र की भलाई के लिये। पिता के हृदय में पुत्र के प्रति द्वेष भावना नहीं होती। इसी तरह से अपवादों के व्यवहार में भी कर्त्ता के मन में स्वार्थ व द्वेष नहीं रहना चाहिये। स्वामी दयानन्द मन की शुद्धता व निर्वैर विचारों को ही अपवादों से व्यवहार के योग्य बताते हैं।

इस विषय में दयानन्द हमको एक ऐसा नियम दे देते हैं जिसे काम के नियमों की तरह निरापद और सार्वभौम कह सकते हैं कि संसार में मनुष्यों को "सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य बर्तना चाहिये।"[1] इस सिद्धांत में तीन बातें मुख्य हैं कि हमको सबसे द्वेष बुद्धि त्याग कर प्रीतिपूर्वक व्यवहार करना चाहिये। दूसरे हमारा व्यवहार धर्मानुसार अर्थात् नीति नियमों के अनुरूप होना चाहिये, तथा तीसरे यथायोग्य अर्थात् जो जिस व्यवहार के लिए उपयुक्त हो उससे वैसा ही करना चाहिये। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि दयानन्द नीति-नियमों के अपवादों के लिए यथायोग्य का सिद्धांत उचित समझते हैं परन्तु द्वेषबुद्धिरहित व सत्यासत्य का निर्णय करने वाली धर्मपरायण बुद्धि के साथ। वे हारे हुए शत्रु के साथ भी मित्रता के व्यवहार

१. आर्य समाज का सातवाँ नियम।

के पक्ष में हैं क्योंकि उनकी यह मान्यता है कि पुरुष अपने शुभाशुभ कर्मों के ही पुण्य व पाप कर्म करने वाले होते हैं। इससे पापी पुरुष से उसके पाप के कारण शत्रुता होती है उससे स्वयं से नहीं। अतः उनके अनुसार हारे हुए शत्रु के दिल को चोट नहीं पहुँचानी चाहिए।[1] परन्तु दुष्टों के दमन के लिये सदैव उद्यत भी रहना चाहिये। इस प्रकार इस सूत्र के सहारे व्यवहार करने से नीति का उल्लंघन भी नहीं होता तथा दूसरी तरह व्यवहार की समस्या भी सुलझ जाती है।

---

१. "जो उसको (शत्रु को) बँदोगूह करे तो भी उसका सत्कार यथायोग्य रखे।.....कभी उसको चिढ़ाये नहीं न हंसी और ठट्ठा करे, न उनके सामने हमने तुमको पराजित किया है, ऐसा भी कहे, किन्तु आप हमारे भाई। इत्यादि मान प्रतिष्ठा सदा करे, सत्यार्थप्रकाश पृ० १६०